

ग्वालियर राज्य का प्रशासनिक स्वरूप

डॉ. के. रतनम्*

सिंधिया शासकों द्वारा पोषित ग्वालियर राज्य मध्य भारत का एक सशक्त राज्य था, जिसकी प्रशासनिक व्यवस्था तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था के अनुरूप मुख्य रूप से द्विस्तरीय थी। प्रथम स्तर में शासक एवं उसकी मंत्रीपरिशद आती थी तथा द्वितीय स्तर में जिला एवं ग्रामीण प्रशासन आता था।¹

सिंधियाकालीन ग्वालियर राज्य में प्रारम्भिक वर्षों में राज्य का प्रशासनिक स्वरूप पेशवाशाही पर आधारित था।² केन्द्रीय शासन व्यवस्था के अनुरूप ग्वालियर के संस्थापक राणोजी के पश्चात महादजी सिंधिया एक सामान्य सरदार थे। परन्तु ग्वालियर राज्य की स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद, महादजी सिंधिया ने स्वतंत्र रूप से शासन किया। महादजी सिंधिया के बाद दौलत राव सिंधिया के काल में पेशवाशाही का पतन हो गया और ग्वालियर राज्य सहायक संधि के कारण ब्रिटिश शासन के अधीन हो गया।³

ग्वालियर राज्य की शासन पद्धति निरंकुश राज्यतंत्रीय होने के कारण राजा सर्वशक्तिमान था। परन्तु ब्रिटिश प्रभुसत्ता के अनुसार राज्य का शासन ब्रिटिश वाईसराय के अधीन था।⁴ ग्वालियर राज्य में शासक को राज्य में सर्वाधिकार एवं शक्तियाँ प्राप्त थी और अपनी शक्तियों का प्रयोग राज्य की सामान्य नीति—निर्देशन करने में करता था।⁵ ग्वालियर राज्य की राजधानी का मुख्यालय लश्कर था। ग्रीष्मकाल में राज्य का संचालन शिवपुरी से होता था।⁶ सिंधिया कालीन ग्वालियर राज्य का केन्द्रीय प्रशासन का स्वरूप निम्नानुसार था:—

ग्वालियर राज्य का शासन निरंकुश राजतंत्रीय शासन पद्धति पर आधारित था।⁷ अतः सिंधिया शासकों के अधीन ग्वालियर राज्य की शासन प्रणाली में केन्द्रीय शासन सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। ब्रिटिश सर्वमान्य प्रभुत्वा भारतीय रियासतों के लिए उत्तरदायी थी। ग्वालियर राज्य भी ब्रिटिश सर्वमान्य सत्ता के अधीन था, परन्तु शासकों आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। राज्य का संचालन ब्रिटिश वाईसराय के अधीन ही था।⁸

ग्वालियर राज्य के शासक को अपने राज्यान्तर्गत सभी प्रकार के अधिकार एवं सूची तथा प्राप्त थीं। शासक राज्य की शक्ति और अधिकार का केन्द्र होता था।⁹ यद्यपि कार्य पालिका, विधायिका और न्यायपालिका को वह अपनी शक्तियाँ प्रदान कर देता हथा, फिर भी कम शक्तियों के उपयोग का और राज्य की सामान्य नीति निर्देशन का अधिकार एवं शक्ति अपने पास रखता था।¹⁰ राज्यके शासक को जीवन एवं मृत्यु तथा कानून बनाने का अधिकार था।¹¹ सभी मामलों में महाराजा का निर्णय अन्तिम माना जाता था। वह किसी भी विभागाध्यक्ष के आदेश की पूर्णतः या अंशतः परिवर्तित अथवा निरस्त कर सकते थे। विभिन्न विभागों के

* प्राध्यापक (इतिहास) महारानी लक्ष्मीबाई शासकीय उत्कृष्ट महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

मन्त्रियों के अवकाश दरबार के आदेश से स्वीकृत होते थे।¹² वित्तीय अधिकारों के अन्तर्गत राज्य का बजट शासक द्वारा स्वीकृत होता था।¹³

ग्वालियर राज्य में केन्द्रीय प्रशासन व्यवस्था में शासक को समस्त व्यवस्थापिका, न्याय एवं वित्तीय अधिकार प्राप्त थे। ग्वालियर राज्य में शासक को राज्य के संचालन में सहयोग प्रदान करने के लिए एक मंत्री परिषद होती थी। यह मंत्री परिषद पूर्णरूप से मराठा 'अष्ट प्रधान' नीति के अनुरूप थी।

शिवाजी द्वारा निर्मित अष्ट प्रधान के अनुसार ग्वालियर राज्य की कार्यकारिणी परिषद में सदस्यों की संख्या आठ ही रखी गई थी।¹⁴ समय-समय पर इसके सदस्यों की संख्या में न्यूनाधिकता बनी रही। सन् 1941-42 में इस परिषद में 10 विभाग थे — विदेश एवं राजनैतिक, सेना, गृह, राज्य, वित्त, कानून और न्याय, उद्योग, व्यापार और संचार, ग्राम कल्याण एवं स्थानीय शासन, राज्य व्यापार एवं पूर्ति विभाग, जागीर एवं पत्रकारिता। इस विभागों के प्रभारी मंत्री मिलकर ग्वालियर राज्य को कार्यकारिणी परिषद कहलाते थे। इस परिषद की बैठकों की अध्यक्षता महाराजा किया करते थे, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में परिषद मंत्री अध्यक्ष पद का दायित्व ग्रहण करता था।¹⁵

माधव राव सिंधिया ने अपने कार्यकाल में केन्द्रीय परिषद में सहयोगियों की संख्या 9 कर दी।¹⁶ केन्द्रीय शासन व्यवस्था के अनुरूप ग्वालियर राज्य में प्रान्तीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न विभाग थे। सम्पूर्ण प्रान्तीय शासन त्रस्तरीय था। प्रान्तीय शासन कि अन्तर्गत जिला प्रशासन जिसे सूबा कहा जाता था। प्रशासनिक निर्देशों के क्रियान्वयन का कार्य करता था। जिला प्रशासन के अधीन परगना प्रशासन था। परगना प्रशासन के अन्तर्गत ग्राम शासन प्रशासन का अन्तिम ईकाई होता था।

दौलतराव सिंधिया ग्वालियर राज्य के पूर्व कालीन शासकों के समय था पेशवाशाही के आधार पर राज्य-प्रशासन व्यवस्था संचालित रही थी। इस राज्य प्रशासन व्यवस्था के महत्व की पृष्ठभूमि में जयाजीराव सिंधिया के शासनकाल में ग्वालियर राज्य के संगठन की ओर विशेष ब्यान दिया गया था। आधुनिक प्रशासनिक कालया में राज्य का संगठन सर्वप्रथम दीवान दिनकर राव द्वारा दिया गया, तदनुसार इसे प्रान्तों (संभागों), जिलों तथा परगनों (तहसीलों) में विभाजित दिया गया था। इस व्यवस्था के अनुसार राज्य में 3 प्रान्त (ग्वालियर, ईसागढ़ तथा मालवा) 19 जिले तथा 62 तहसीलें सन् 1903-04 ई0 तक रही थीं।¹⁷

उपर्युक्त स्थिति के उपरान्त सन् 1903-04 ई0 में 13 जिलों तथा 45 तहसीलों वाले एक ही प्रान्त में राज्य का पुनर्गठन किया गया था। सन् 1911ई0 की जनगणना के समय तक जिलों तथा तहसीलों की संख्या वार घटाकर क्रमशः 11 एवं 39 कर दी गई थी। यह स्थिति राज्य के मध्य भारत में विलय काल तक रही।¹⁸ राज्य प्रबन्ध की दृष्टि से इस राज्य के दो विभाग दिये गये थे। उत्तरी राज्य में 7 जिले तथा मालवा में 4 जिले कुल 11 जिलों में विभाजित किये गये थे।¹⁹ राज्य में प्रान्तों, जिलों एवं तहसीलों की संख्या में स्थिरता न रहकर समय-समय पर परिवर्तन होता रहा।

प्रारम्भ में राज्य के तीन प्रान्तों को एक-एक सरसूवा (आयुक्त) के बयान रचा गया था। मालान्तर में दो सरसूवातें कायम रह गई, जिनका शासन प्रणाली पृथक-पृथक थी। उत्तरी ग्वालियर के अधिकारी सीधे ही राजस्व मण्डल के अधीन थे, जबकि मालवा प्रान्त के सूवा अपने सरसूवा के माधम से उक्त मण्डल के प्रति उत्तरदायी थे।²⁰ सरसूवा अंग्रेजीशासन में मिशनर के रामपदा अधिकारी होता था तथा वह अपने कार्यदीर्घ का राजस्व प्रशासनिक तथा राजस्व अधिकारी होता था। वह प्रान्त में राजा का प्रतिनिधि होता था।

ग्वालियर राज्य में, पुलिस, शिक्षा, ग्वालियर और लोक निर्माण आदि अन्य विभाग अपने विभाग के प्रान्तीय स्तर के अधिकारियों द्वारा संचालित होकर सरसूवा के नियन्त्रण में रहते थे। दूसरे प्रान्तीय स्तर के बड़े-बड़े अधिकारी पुलिस उप महानिरीक्षक²¹ एवं शिक्षा उप महानिरीक्षक आदि थे।²²

ग्वालियर राज्य में एक प्रशासनिक सफाई के रूप में जिले का उद्भव सन् 1853 में हुआ, जबकि को प्रादेशिक इकाइयों में विभाजित किया गया था। अंग्रेजी राज्य के अधीन प्रान्त में जिस प्रकार जिलों में कलेक्टर अथवा उपयुक्त नियुक्त दिये जाते थे, उसी प्रकार प्रत्येक जिले के प्रमुख के रूप में एक सूधा नियुक्त दिया गया था। वह जिले का मुख्य राजस्व और प्रशासनिक अधिकारी तथा जिला मजिस्ट्रेट भी होता था।²³ जिले का मुख्यालय उस जिले के मुख्य नगर में होता था।²⁴

ग्वालियर राज्य में बड़े-बड़े जिला अधिकारी न्यायाधीश प्रथम श्रेणी व पुलिस अधीक्षक थे। न्यायाधीश प्रथम श्रेणी सदर रिमानफ खौर दीवानी में व्यवहार न्यायाधीश प्रथम श्रेणी के अधिकार प्राप्त थे। शिक्षा, स्वास्थ्य, पुलिस आदि अन्य विभाग अपनी विभाग के जिला स्तर के अधिकारियों द्वारा संचालित होकर सूवा के नियन्त्रण में रहते थे।²⁵ प्रत्येक जिला परगनों में विभाजित किया गया था। परगना स्तर पर सूवा की सहायता तहसीलदार करता था, जो बहुत दिनों तक के पुराने नाम से जाना जाता रहा।²⁶

सिंधियाकालीन ग्वालियर राज्य में ग्राम सतर पर राजस्व का कार्य एक पटवारी के द्वारा दिया जाता था जो राजस्व प्रशासन का आधार या बुनियाद था। इसके अधीन एक या एक दो अधिक ग्राम के हल्के होते थे। वह भू-अभिलेखों की देखरेख रखता था और राजस्व वसूल करने में तहसील के कर्मचारियों की सहायता करता था। लगभग जून 1890 तक पटवारियों को उसके पारिश्रमिक के बदले अधिकतर भूमि दे दी जाती थी। सन् 1890 में उसे द्वारा पारित सभी भूमियां वापिस ले ली गईं और उसके प्रतिफल में भू-राजस्व पर एक उस कर लगाया गया, जिसमें से उन्होंने पहले त्रैमासिक और बाद में मालिक नकद भुगतान किया जाता था। पटवारियों पर रामनगोजों की निगरानी रहती थी, जिनके अधिकारी निरीक्षक होते, जो कागजात देही विभाग के अधीनस्थ थे, लेकिन समस्त अधिनस्थ कर्मचारियां तहसीलदार व सूवा की निगरानी में काम करता था।²⁷

ग्राम का मुखिया जमींदार, पट्टीदार अथवा नम्बरदार था और इस हैसियत से दरवार के प्रति उत्तरदायी था।²⁸ वह पटवारी और चौकीदारों के कार्यों पर नियन्त्रण रखता था। ग्राम अच्छी दशा में रहे और कृषि में प्रगति हो यह काम ग्राम मुखिया का ही था। वह छोटे-छोटे

प्रकरणों का निर्णय भी कर सकता था।²⁹

चौकीदार देहाती पुलिस में गिना जाता था और अपने हल्के का घटनाओं की पुलिस को सूचना देना उसका कर्तव्य था। उसको दरवार से भूमि मिलती थी। बलाई अथवा बलाहर का व्यक्ति था, जिसके अधिकार में कीमती फसलों को निगरानी रहती थी। गौहांजा अथवा जिनाया एक निम्न जाति का व्यक्ति होता, जो सरकार में चिट्ठी पत्री ले जाता अर्थात् पत्र वाहक का कार्य करता था।³⁰

जिस प्रकार सिंधिया शासकों के आधीन ग्वालियर राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था केन्द्रीय एवं प्रान्तीय शासन में विक्त थी, ठीक उसी प्रकार शिक्षा प्रशासन भी केन्द्रीय एवं प्रान्तीय प्रशासन के अधीन वर्गीकृत था। प्रारम्भिक वर्षों में ग्वालियर राज्य में शिक्षा—प्रशासन एवं अधिकारियों का प्रथम से कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

माधवराव सिंधिया के काल से ही ग्वालियर राज्य में शिक्षा के विकास के लिए प्रयास किये गये। राज्य में शिक्षा की सुचारु व्यवस्था के लिए प्रशासनिक स्वरूप प्रदान किया गया। केन्द्रीय प्रशासन के आधीन शिक्षा सुधारों के लिए आर्थिक मदों की व्यवस्था की गयी। सरसूवों से लेकर ग्राम तक शिक्षा विकास एवं शिक्षा की प्रगति का निरक्षण करने के लिए शिक्षा अधिकारियों एवं निरीक्षकों की नियुक्ति की गयी।³¹

उपर्युक्त विवेचना के उपरान्त हम कह सकते हैं कि ग्वालियर राज्य में शिक्षा प्रशासन का स्वरूप दो भागों में विक्त था। प्रथम काल में ग्वालियर राज्य की शिक्षा प्रशासन पेशवाशाही पर आधारित था तथा द्वितीय काल में ग्वालियर राज्य का शिक्षा प्रशासन पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

संदर्भ

1. डॉ० रश्मि परिहार, ग्वालियर का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, (सांस्कृतिक धरोहर के आधार पर), पृष्ठ—117
2. डॉ० मुरारीलाल द्विवेदी, ग्वालियर राज्यान्तर्गत सिंधिया शासकों की प्रशासन व्यवस्था, 96—97
3. वही पृष्ठ, 98
4. वही
5. वही
6. पूर्व ग्वालियर राज्य गजेटियर, पृष्ठ — 17
7. डॉ० मुरारी लाल द्विवेद, पूर्वोक्त पृष्ठ — 101
8. वही
9. वही
10. रहमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि ग्वालियर स्टेट 1941—42 आलीजार दरबार प्रेस, ग्वालियर, सन् 1946 पृ० 14
11. सिंधिया, माधवराव — पालिसा दरबार जिला 19 जागीरदारान व मनराबदारान रियासत ग्वालियर, आलीजाह दरबार प्रेस ग्वालियर सन् 1922 पृ० 26
12. फाईल नं० 12—1 सन् 1944 सेक्शन, ए०जी०यूटिव काउन्सिल आफिस, ग्वालियर गवर्मेन्ट,

राजकयी अभिलेखागार मध्य प्रदेश भोपाल है ।

13. माधवराव सिंधिया, — पालिसी दरबार फायनेन्स डिपार्टमेन्ट भाग-6, आलीजाह दरबार पेस, ग्वालियर सन् 1922 पृ0 13
14. माहफल एच0 ब्राउन — ग्वालियर टु से पृ0 26
15. एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि ग्वालियर स्टेट 1941-42 आलीजाह दरबार प्रेस, ग्वालियर सन् 1946 पृ0 15
16. डॉ0 मुरारी लाल द्विवेदी, पूर्वोक्त पृ0 101-102
17. मध्य प्रदेश जिला ग्जेटियर ग्वालियर — व0सु0 कृष्णन जिला ग्जेटियर विभाग मध्य प्रदेश, भोपाल, प्रथम संस्करण सन् 1968 पृ0 3
18. मध्य प्रदेश जिला ग्जेटियर ग्वालियर — व0सु0 कृष्णन पृ0 3
19. कामर्शियल डायरेक्टरी ग्वालियर स्टेट, सन् 1934, आलीजाह दरबार प्रेस, ग्वालियर पृ0 7
20. जयाजी प्रताप 11 जून, 1925 पृ0 12-13
21. एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ग्वालियर स्टेट 1941-41 पृ0 3
22. ग्वालियर स्टेट एज्यूकेशन मैचुअल सन् 1936 आलीजाह दरबार प्रेस, ग्वालियर पृ0 3
23. मध्य प्रदेश ग्जेटियर जिला ग्वालियर — व0सु0 कृष्णन पृ0 234
24. कामर्शियल डायरेक्टरी, ग्वालियर स्टेट, सन् 1934, पृ0 7
25. ग्जेटियर रियासत ग्वालियर प्रामि भाग सी0ई0 लुवार्ड, अनुवादक शयार खां, स्टेन्डर्ड प्रेस, इलाहाबाद सन् 1912 पृ0 124
26. मध्य प्रदेश ग्जेटियर जिला ग्वालियर पृ0 234
27. ग्जेटियर रियासत ग्वालियर प्रथम भाग सी0ई0 लुवार्ड पृ0 124
28. वही, पृ0 125
29. मेमोरेण्डम म0 25 घायल सभायें निकालने मनमानी कलूस मय बन्द हिदायत बन्दरदाराम व पलेलाम, आलीजाह दरबार प्रेस ग्वालियर सन् 1923 पृ0 43
30. ग्जेटियर रियासत ग्वालियर प्रामि भाग पृ0 125
31. रघुवीर सिंह, मालवा में युगान्तर हिन्दी साहित्य समिति इन्दौर प्रष्ट 3 — 1938 ई0 ।

बुन्देलखण्ड पर ब्रज की लोक संस्कृति का प्रभाव

प्रतिभा राजे* डॉ. के. रतनम्**

मथुरा शब्द बहुत पुराना है, जिसे मथुरा या मधुपुरी के नामों से वैदिक युग तक में जाना गया है। परंतु इसका सम्बन्ध ब्रज से स्थापित किया हुआ नहीं मिलता। ब्रज क्षेत्र की सीमाओं का निर्धारण पौराणिक काल से पूर्व, उपलब्ध विवरणों से नहीं किया जा सका।

“इस काल तक जनपदों और प्रदेशों के प्राचीन नाम हट चुके थे अथवा कमजोर हो चुके थे, अतः धर्म के मेरुदण्ड पर निर्भर, ब्रज नाम ने शेष समस्त भौगोलिक नामों आत्मसात कर लिया।”

कृष्णोपासक सम्प्रदायों और ब्रज भाषा कवियों के कारण, जब ब्रज संस्कृति और ब्रज भाषा का क्षेत्र बढ़ा तब ब्रज का आकार भी सुविस्तृत हो गया, उस समय मथुरा नगर ही नहीं बल्कि उससे दूर-दूर के भू-भाग भी जो ब्रज की संस्कृति और ब्रज की भाषा से प्रभावित थे, ब्रज के ही भाग मान लिये जाने में मान गये थे।¹

इस प्रकार ब्रज संस्कृति अखिल भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत एक क्षेत्रीय पहचान बना पाने में सफल रही, साथ ही इसे मथुरा का गौरव भी जुड़ गया था। इसे डॉ. सत्येन्द्र ने इस प्रकार कहा है। “मथुरा मंडल का मूल तो राजनैतिक ही प्रतीत विदित होता है, क्योंकि यह नाम की नगरी के आधार पर पड़ा और मथुरा नगरी को राजधानी होने के कारण यह महत्व मिला।”² यद्यपि इस मथुरा के महात्म्य का पोषण धार्मिक और सांस्कृतिक प्रकारों प्रवृत्तियों ने राजनीतिक प्रवृत्तियों से कहीं अधिक किया। अतः मथुरा और ब्रज एक दूसरे के पर्याय हो गये। इस दृष्टि से ब्रज का इतिहास भी वही प्रतीत होता है जो मथुरा का है।

ब्रज की भौगोलिक सीमा के सम्बन्ध में ग्राउस तथा सर हैनरी एवं इलियट महोदय द्वारा उद्धृत एक प्रचलित दोहे पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। जो निम्न प्रकार है—

इस बर—हद उत सोन हद, उत सूर सैन को गाँव।

विजै चौरासी कोस में, मथुरा मंडिल मांह।।³

उक्त दोहे के अनुसार एक ओर की सीमा अलीगढ़ जिले का गाँव बरहद है, दूसरी ओर की सीमा गुड़गाँव जिले की सोन नदी है। तीसरी ओर की सीमा सूरसेन का गाँव अर्थात् वटेश्वर है और चौथी ओर का संकेत नहीं किया गया। ब्रज को मथुरा मंडल में चौरासी कोस की सीमाओं में परिबद्ध माना है।

ब्रज क्षेत्र की भाषा ब्रज भाषा के नाम से भी जानी जाती है अभिहित की गई है। ब्रज भाषा के अनेक नाम उपलब्ध होते हैं, जैसे ‘मध्यदेशी’ व ‘ग्वालियरी’। ‘ग्वालियरी’ नाम ग्वालियर के ऐश्वर्य काल में प्रचलित हुआ।⁴ ब्रज भाषा का क्षेत्र अत्याधिक बढ़ा व व्यापक मिलता है, ब्रज भूमि की छोटी संकुचित भौगोलिक सीमाओं में यह आबद्ध नहीं होती, फिर भी

* शोध छात्रा (इतिहास) जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

** प्राध्यापक (इतिहास) महारानी लक्ष्मीबाई शा. उत्कृष्ट महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

इसका मूल क्षेत्र मध्यदेश ही बना रहा, जो ब्रज मंडल का पर्याय माना जा सकता है। प्रभु दयाल मीतल ने धार्मिक ब्रज को दो रूपों में विभक्त किया है, साम्प्रदायिक तथा आध्यात्मिक। उनका विचार है कि वन यात्रा का ब्रज यात्रा की परिधि में मथुरा मंडल का जितना भू-भाग आता है चाहे वे चौरासी कोस परिमाण का है अथवा नहीं साम्प्रदायिक ब्रज है।⁶ इसी साम्प्रदायिक ब्रज को वर्तमान ब्रज मंडल कहा गया है। आध्यात्मिक ब्रज बहुत विशाल अर्थ रखता है, उसे सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता।

ब्रज संस्कृति, अखिल भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत एक क्षेत्रीय संस्कृति है। यह देश की सामूहिक संस्कृति का अंग होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताएं रखती हैं। इनके कारण इसे बहुत प्रखर रूप प्राप्त है। इस संस्कृति के निर्माता भगवान श्री कृष्ण थे, जिन्हें 'गोपाला' भी कहा जाता है। इस संस्कृति के पूर्व तक गोपाल-कृष्ण को गायों के साथ वनों में विचरण करना और वहाँ पर गोपियों के साथ नाना प्रकार की लीलाएँ करना अत्यंत प्रिय था। इस प्रकार गोपाल इसमें परमोपास्य है तथा गौ गोपी, गोप, गोकुल और गोष्ठ उनके परिवार हैं। ब्रज के साहित्य में भक्त कवियों की सरस और गेयपद रचनाएँ हैं, लोककवियों की सरल, स्वाभाविक और भावभरित गेय तुकबंदियाँ हैं। ब्रज की संस्कृति मूलतः धार्मिक संस्कृति है, जिसे कला और साहित्य द्वारा पोषण प्राप्त हुआ है। इन सब कारणों से ब्रज संस्कृति ने भारत की सामूहिक संस्कृति को सर्वाधिक रूप से प्रभावित किया है तथा उत्तरी मध्यप्रदेश की 'संस्कृति' तथा 'लोक' भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

बुन्देलखण्ड ब्रज संस्कृति से प्रभावित है। ब्रज तथा बुन्देलखण्ड में संस्कृति, मूल्यों, दर्शन आदि का आदान प्रदान होता है। ब्रज संस्कृति मूलतः धार्मिक संस्कृति है और इस संस्कृति के निर्माता श्रीकृष्ण हैं तथा परमोपास्य देव भी है तथा कृष्ण की उपासना यहाँ का प्रमुख धर्म है। उसी प्रकार उत्तरी मध्यप्रदेश में भी कृष्ण (कृष्णोपासना) परमोपास्य देव के रूप में पूजे जाते हैं तथा राधा-कृष्ण के मंदिर यहाँ अधिकांशतः सभी स्थानों पर विद्यमान हैं। धार्मिक पुस्तक 'गीता' तथा 'भागवत्' यहाँ, हर हिन्दू घर में पढ़ी तथा पूजी जाती है एवं 'गीता दर्शन को' जीवन-दर्शन में उतारने का प्रयास यहाँ हर मानव करता है। तुलसी का एक नाम 'श्यामा' भी है क्योंकि वह भगवान कृष्ण को बहुत प्रिय है। तुलसी का पौधा यहाँ, अधिकतर घर में मिलता है तथा उसकी पूजा की जाती है।

प्रत्येक पूर्णिमा तथा एकादशी को कृष्ण जी के लिये व्रत तथा पूजन किया जाता है। गुरु-पूर्णिमा को गोबरधन की परिक्रमा तथा सावन-भादों में यहाँ का जनमानस चौदह कोस की परिक्रमा लेने को उतावला रहता है। 'ब्रज यात्रा' पर जाना यहाँ एक तीर्थ के रूप में जानी जाती है। समस्त बुन्देलखण्ड का मानव जीवन में एक बार तो कम से कम यह यात्रा जरूर करना चाहता है। मथुरा नगरी को प्रधान पुरियों में माना जाता है। वृंदावन को 'धाम' मानकर दर्शन के लिये जाते हैं।

ब्रज की तरह ही यहाँ भी गाय एक उपयोगी पशु मात्र ही नहीं, वरन् संस्कृति का एक प्रकार से प्रमुख आधार ही है। गाय यहाँ की धार्मिक भावनाओं से निकट का सम्बन्ध रखती है। गाय के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति की भावना जुड़ने से वह 'गौ-माता' है। गौ माता को पाला जाता है, उससे दूध, दही, मक्खन जैसे पौष्टिक पदार्थ प्राप्त किये जाते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण का जन्म को यहाँ का मानव उत्सव के रूप में मनाता है, जिसे हम जन्माष्टमी के रूप में जानते हैं। उत्सव (जन्माष्टमी) समारोहपूर्वक मनाया जाता है तथा ब्रज की भांति यहाँ पर भी मंदिरों में कृष्ण की झाँकियाँ लगाई जाती हैं। दिन-भर कथा कीर्तन, गायन-वादन और प्रवचन होते रहते हैं। हिन्दू जनमानस व्रत रखकर कृष्ण के प्रति श्रद्धा भक्ति प्रकट करता है। भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को वृंदावन की तरह ही इस क्षेत्र में भी श्री राधा जी का जन्म दिवस, मंदिरों में मनाया जाता है तथा राधा जी का जन्म बधाई के पदों का गायन भी होता है।

चैत्र के प्रथम पखवाड़े में माता पूजन के लोक त्यौहार की धूमधाम रहती है। माता या शीतला ब्रज की लोकदेवी है।⁷ चैत्रकृष्ण अष्टमी को 'शीतला आठें' के दिन विशेष रूप से शीतला माता का पूजन होता है, यह पूजन, बाल-बच्चों की स्वास्थ्य-कामना के लिये किया जाता है। माता पूजन के लिये स्त्रियाँ एक दिन पहिले पूरी-पापड़ी आदि बनाकर रखती हैं, दूसरे दिन उस बासी सामग्री से माता की पूजा की जाती है, उस दिन को 'बासौड़ा' कहा जाता है। इस दिन माता पूजन से बच्चे स्वस्थ सकृशल रहते हैं, तथा चेचक रोग से पीड़ित नहीं होते। यह शीतलाष्टमी इसी रूप में बुन्देलखण्ड में भी मनाई जाती है।

आषाढ़ शुक्ल 15 को भगवान व्यास देव के जन्म दिवस को 'गुरु पूर्णिमा' भी कहते हैं। इस दिन गिरिराजजी की परिक्रमा की जाती है इस दिन समस्त ब्रज के समान बुन्देलखण्ड के अनेक गाँवों के लाखों लोग (नर-नारी) पैदल चल कर गोबरधन पहुँचते हैं और वहाँ मानसी गंगा में स्नान कर गिरिराज जी की परिक्रमा करते हैं।

ब्रज के लोकजीवन में श्रावण-भाद्रपद के महीने में होली के बाद सबसे अधिक उमंग-उत्साह के माने जाते हैं। उन दिनों यहाँ सर्वत्र झूले पड़ जाते हैं। झूला-झूलते हुए नारियाँ और बालक बालिकायें सुरीली तान से मल्हार के गीत गाती हैं।⁸ इसी प्रकार उत्तरी मध्यप्रदेश में श्रावण-भाद्रपद में झूले डाले जाते हैं तथा यहाँ की बालाएं भी मल्हार, सावन तथा राछरे गीत गाती हैं। जिसमें मल्हार गीत सबसे अधिक प्रचलित है :

अरी भैना घटा तो उठी है घनघोर, सामन में चमके बीजुरी जी ।।

कारे-कजरारे ही बदरा झुकि रहे, अरी भैना, उमड़ि-घुमड़ि चहुँओर ।

सामन..... ।

झूला झूलति री भैना डर लगे, अरी भैना, पिया गये हैं परदेस ।

सामन में ।⁹

अश्विनी मास के पितृपक्ष का सबसे प्रसिद्ध समारोह 'सांझी' का आयोजन है। इसे ब्रज में धार्मिक उत्सव, लोक त्यौहार और कलात्मक प्रदर्शन आदि कई रूपों में सम्पन्न किया जाता है। 'साँणी' ब्रज की लोक देवी है। सांझ (संध्या) के समय पूजा जाने के कारण कदाचित इसका यह नाम पड़ा।¹⁰ यह गौरी पार्वती का ही एक लोक प्रसिद्ध रूप है। इसके कलात्मक रूप की झाँकी ब्रज के मंदिर देवालयों में मिलती है और इसका भक्तिपूर्ण कथन ब्रजभाषा काव्य में हुआ है।

ब्रज की बालिकाओं के लिये साँझी का लोकोत्सव प्रसिद्ध खेल है, जो घर की दीवारों पर गोबर, फूल, पत्ती आदि से साँझी का चित्रण करती है। यह चित्रण 15 दिनों तक नये-नये रूपों में किया जाता है। साँझी पूजन में बालिकाओं की मनोकामना रहती है कि साँझी माता के पूजन से योग्यवर और चिर सौभाग्य प्राप्त होगा। वृंदावन के भक्त कवियों ने साँझी लीला के अनेक पदों की रचना की है।

बुन्देलखण्ड में भी साँझी पूजन मनोरंजन के साथ, लोक कला की आकर्षक झांकी के रूप में मिलती है। समूचे अंचल में पितृपक्ष के पन्द्रह दिनों में छोटी-छोटी बालिकाओं द्वारा घर की दीवार पर साँझी का चित्रण होता है। दतिया के मंदिरों और सांस्कृतिक स्थलों में साँझी का प्रदर्शन सूखे रंगों तथा कागज के सांचों द्वारा अत्यंत कलात्मक ढंग से किया जाता है। दतिया में साँझी श्राद्ध पक्ष के अश्विनी कृष्ण एकादशी से पांच दिन तक जमीन पर एक चौकोर मिट्टी का आकार उस पर सूखे रंगों से उलछारी जाती है।¹¹ दतिया में राधावल्लभी सम्प्रदाय के अनेक मंदिर हैं, मान्यता है कि साँझी सजाने से भी कृष्ण भगवान प्रसन्न होते हैं, और वे मनोवांछित फल प्रदाय करते हैं। साँझी उत्सव के समय गाये जाने वाले गीतों का संकलन राधावल्लभी सम्प्रदाय की वाणियों में हैं।¹²

शेष, समूचे उत्तरी बुन्देलखण्ड में साँझी भक्ति भावना तथा कलात्मक रूप में ब्रज के अनुरूप ही है। साँझी की पूजा आरती करते समय ब्रज की तथा यहाँ की बालिकाएँ अनेक लोकगीत गाती हैं, जिनमें उनकी भोली-भाली भावना व्यक्त होती है।

साँझी तथा टेसू बालकों का खेल है तथा झाँझी बालिकाओं का ये दोनों विनोदात्मक खेल है जो ब्रज तथा बुन्देलखण्ड को लोक संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग हैं। यह एक खिलौना होता है, जो बांस की तीन पतली तीलियों से मिट्टी के बने हुए एक पुरुष चेहरे को रखकर बनाया जाता है। यह विचित्र खिलौना महाभारत कालीन एक योद्धा बब्रुवाहन का प्रतीक माना जाता है, 'बब्रुवाहन' का कटा हुआ सिर एक शमी के वृक्ष पर रख दिया गया था और उसे वरदान दिया गया कि वह मरने के उपरांत भी अपने कटे हुए सिर से महाभारत का युद्ध देखता रहेगा। टेसू का पुरुष चेहरा जहाँ 'बब्रुवाहन' के सिर का प्रतीक है, वहाँ बांस की तीलियाँ शमी के वृक्ष को प्रकट करती हैं।¹³

ब्रज के बालक सांयकाल के टेसू लेकर और उस पर दिया जलाकर मुहल्लों में प्रत्येक घर के दरवाजे पर जाते हैं और वहाँ टेसू के गीत गाकर कुछ पैसे प्राप्त कर, टेसू झेंझी के ब्याह पर प्रीतिभोज में खर्च करते हैं।

ब्रज के टेसू गीत

टेसूराम घंटार बजाइयो। नौ नगरी, दस गांव बसाइयो।।

बसिगे तीतर, बसिगे मोर। हरि नौनियाएं लेंगे चोर।।

चौरन के घर खेती भई। खाय नौनियां मोटी भई।।

टेसूराम की सात बौहरियां। नांचे, कूंदे, चढ़े अटरिया।।

बुन्देलखण्ड के टेसू गीत

टेसू मेरा झेंई ठड़ा,
खाने को मांगे दही बड़ा,
दही बड़े में पन्नी,
धद्दे ओ सेठ अठन्नी ।

झांझी यह मिट्टी की एक छेददार हांडी होती है, जिसमें जलता हुआ दीपक रखा जाता है । जिसके छेदों में से मंद प्रकाश निकलता रहता है । ग्रामीण बालिकाएं उस हांडी को लेकर मुहल्ले के दरवाजे—दरवाजे जाकर गीत गाकर पैसे प्राप्त करती हैं ।¹⁴

ब्रज के झांझी गीत

मां? भैया कहाँ—कहाँ ब्याहे, मां? भाभी को मुहड़ी, परवेरिया?
नाक चना सी, मुंह बटुआ सौ, घूंघट में मन लाई, परबेरिया ।

बुन्देलखण्ड झांझी गीत

मेरी झेंझी का नाम झिंझरिया रे
झेंझी, घरई चलो,

इसी प्रकार बुन्देलखण्ड में भी झांझी तथा टेसू खेल तथा गीत क्रमशः खों तथा गाये जाते हैं तथा दोनों का ब्याह रचाया जाता है तथा ऐन वक्त पर टेसू का सिर उड़ा दिया जाता है । इस प्रकार इस खेल की इतिरी होती है ।

होली का उत्सव की धूमधाम तथा उल्लास तो बुन्देलखण्ड में भी ब्रज की तरह ही है परंतु ब्रज की होली की कुछ विशेषताएं दाऊजी की होली की तरह कोड़े (कपड़े को ऐंठकर) तथा ब्रज को जतीपुरा की तरह लठामार होली इस क्षेत्र में भी स्थान बनाने लगे हैं साथ ही लोकगीतों में रसिया तथा फाग यहाँ भी गाये जाने लगे हैं । 'रसिया' तथा ब्रज की होली गीतों का स्पष्ट प्रभाव यहाँ दिखाई देता है ।

ब्रज का लोकगीत होरी

“ब्रज हरि होरी मचाई
नंद घर बजत बधाई
इत ते आई सुधर राधिका
उत ते किसन कन्हाई
हिलिमिलि फाग, लाल भए अम्बर
सोभा बरनी ने जाई, नंद घर बजत बधाई ।”¹⁵

बुन्देलखण्ड का लोक गीत

कैसर की उड़त फुहार, कदम्ब तले, ए ठाड़ो भीजे सांवला—सांवला,
ए, जी किधर से आई रानी राधिका और किधरसे आये घनश्याम ।

कदम्ब..... ।

ए, जी पूरब से आई रानी राधिका और पश्चिम से आये घनश्याम ।

कदम्ब..... ।

कैसर की उड़त..... ।

अहीर यह ब्रज मंडल की एक गो-पालक जाति है। सूरदास ने ब्रज में और मथुरा में श्री कृष्ण का परिचय नंद अहीर के पुत्र के रूप में कराया जाता है।

1. वासुदेव घर भीतर आए, मैं 'अहीर' करि जाने¹⁶

2. एई सुत नंद 'अहीर' के¹⁷

कृष्ण के समय में जो अहीर लोग मथुरा मंडल के ग्रामीण भाग में रहते हुए गायों का काम करते थे, वे बाद में उत्तरी भारत में दूर-दूर तक फैल गये। झाँसी के आसपास अहीरों और गूजरों को गांव के गांव बसे हुए हैं।¹⁸

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है— 'पेशवाओं के काल तक जटवारा, भदावर, कछवाह, धार, तंवरधार, शिकरवारा, गूजरधार अर्थात् समस्त ग्वालियर-नरवर क्षेत्र 'अहीर बाड़ा' कहलाता था। अब यह जाति गौ पालन के अतिरिक्त अन्य काम भी करती है।'¹⁹

'ब्रजभाषा के विस्तार के क्षेत्र में ग्वालियर का उल्लेख बार-बार मिलता है। 'वंश भास्कर' के रचयिता सूरजमल ने एक दोहे में दिल्ली और झाँसी के बीच के प्रदेश को ब्रज भाषा का क्षेत्र माना है।'²⁰

दोहे में निम्नलिखित विवरण है।

“पुर दिल्ली और ग्वालियर बीच ब्रजदिक देस।

इससे पूर्व भी आईने अकबरी में ब्रज भाषा के विस्तार क्षेत्र में का उल्लेख है। ब्रजभाषा के प्रसिद्ध वैयाकरण जियाउद्दीन ने तथा प्रसिद्ध भाषा शास्त्री गियर्सन ने भी ग्वालियर को ब्रजभाषा क्षेत्र में सम्मिलित किया है।'²¹

ब्रजमंडल के विस्तार की चर्चा में श्री नारायण चतुर्वेदी ने भी बुन्देलखण्ड उल्लेख किया है।'²²

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बुन्देलखण्ड क्षेत्र ब्रज की विश्वास, परम्पराओं एवं साहित्य से प्रभावित क्षेत्र रहा है तथा यहां की लोक संस्कृति पर बृज की लोक संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव मिलता है।

सन्दर्भ :

- (1) डॉ. सत्येन्द्र ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ.-23 ।
- (2) प्रभुदयाल मीतल, ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, पृ.-2 ।
- (3) डॉ. सत्येन्द्र ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ.-5 ।

- (4) विपिन कुमार चतुर्वेदी, ब्रज लोकवार्ता में सूर्य, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, 1973, जीवाजी विश्वविद्यालय, पृ.-2 ।
- (5) डॉ. सत्येन्द्र, ब्रज साहित्य का इतिहास, पृ.-11 ।
- (6) प्रभुदयाल मीतल, ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, पृ.-9 ।
- (7) वही, पृ.-241 ।
- (8) वही, पृ.-252 ।
- (9) वही ।
- (10) श्री मोतीलाल त्रिपाठी अशान्त, बुन्देलखण्ड दर्शन से संकलित लोकगीत ।
- (11) प्रभुदयाल मीतल, पृ.-259 ।
- (12) डॉ. रामस्वरूप ढेंगुला, सांझी, दतिया की लोकचित्र शेली, पृ.-72 । चौमासा जुलाई-अक्टूबर 96 ।
- (13) वही, पृ.-72, चोमासा जुलाई अक्टूबर 96 ।
- (14) प्रभुदयाल मीतल, पूर्वोक्त, वही, पृ.-262 ।
- (15) वही ।
- (16) डॉ. कुलदीप, लोकगीतों का विकासात्मक अध्ययन, पृ.-189 ।
- (17) सूरसागर, 45 सं. 4090 ।
- (18) सूरसागर, पद सं. 3681 ।
- (19) प्रभुदयाल मीतल, पूर्वोक्त, पृ.-69 ।
- (20) हरिहर निवास द्विवेदी, मध्यदेशीय भाषा (ग्वालियरी) पृ.-87 की पाद टिप्पणी ।
- (21) हरिहर निवास द्विवेदी, ग्वालियर दर्शन, पृ.-287 ।
- (22) वही ।

रामगढ़ राज्य को कोर्ट ऑफ वार्डस के हाथों में सौंपा जाना

डॉ. अशोक सिंह नरवरिया*

रामगढ़ राज्य 22° 21' उत्तर अक्षांश से 23° 22' उत्तरी अक्षांश तक और 80° 20' पूर्वी देशान्तर से 81° 41' पूर्वी देशान्तर के मध्य स्थित था। रामगढ़ राज्य का विस्तार सुहागपुर अमरकंटक और कबीर चबूतरा तक था।¹

रामगढ़ रियासत की भूमि सतपुड़ा-मैकल श्रेणी का उत्तर-पूर्वी भाग है, जो नर्मदा-सोन घाटी बघेलखण्ड का पठार और छत्तीसगढ़ का मैदान से त्रिकोण बनाती है। इस पठारी राज्य के धरातल का ढाल पूर्व से पश्चिम की ओर है। इस राज्य की भूमि की समुद्र सतह से ऊँचाई 600 मीटर से 1100 मीटर तक के बीच है। राज्य का सबसे ऊँचा स्थान पूर्व की ओर नान्हूदादर 1100 मीटर प्रसिद्ध है। अन्य ऊँचे स्थानों में अमरकंटक 1057 और कबीर चौतरा 1037 मीटर है।² राज्य का अधिकांश भाग पहाड़ों, पठारों, नदियों तथा घने जंगलों से घिरा हुआ है।

रामगढ़ राज्य की मुख्य नदी 'खरमेर' है, जो राज्य के मानगढ़ पठार से निकलती है। यह नदी राज्य के ही धारगढ़ और निगमानी गढ़ पहाड़ के बीच में उत्तर की ओर कई किलोमीटर बहती हुई राज्य की प्रमुख नदी-नर्मदा में मिल जाती है। रामगढ़ का किला खरमेर नदी के किनारे स्थित था। इस कारण यह नदी रामगढ़ के सुरक्षा कवच के रूप में विख्यात थी। नर्मदा नदी अमरकंटक पहाड़ से निकलकर सर्वप्रथम इसी राज्य की पूर्वी सीमा पर बहती है। यहाँ पर नर्मदा नदी का मार्ग संकरा, गहरा, टेढ़ा, मेड़ा एवं चट्टानी है।³ राज्य के कपिलधारा नामक स्थान पर नर्मदा 18 मीटर ऊँचे से गिरकर मनोरम जल प्रपात बनाती है। नर्मदा नदी रामगढ़ राज्य की उत्तरी-मध्य सीमा में कई किलोमीटर बहकर मण्डला राज्य में चली जाती है।

रामगढ़ राज्य के पूर्वी भाग अर्थात् नर्मदा नदी के दक्षिण में डिंडोरी से अमरकंटक तक एक लम्बा और सकरा मैदान है इसे डिंडोरी का मैदान या 'खलोटी' कहते हैं। इस मैदान की मुख्य नदियाँ मचरार, चकरार, सिवनी और तुरार हैं। ये नदियाँ दक्षिण से उत्तर की ओर बहती हैं और नर्मदा नदी में मिलती हैं।⁴ इसके अलावा रामगढ़ राज्य के उत्तर पश्चिमी भाग में गौर नदी, छोटी महानदी एवं कनाई (कन्हाई) नाला प्रमुख है। रामगढ़ के पास मोहन नाला भी है, जिसका नामकरण रामगढ़ राज्य के पूर्वज मोहन सिंह लोधी के नाम पर पड़ा।

रामगढ़ पहाड़ियों का राज्य है, जिसमें नान्हू दादर, अमरकंटक, कबीर चौतरा के अलावा मानगढ़, खन्नात, बन्दीछोर, निगवानी धारगढ़, दलदला, चौरादादर, बांदादार, धौरागढ़, सुकुमगढ़ अन्य प्रमुख पहाड़ हैं। रामगढ़ राज्य की सिर्फ एक तिहाई भूमि कृषि के योग्य है, शेष भूमि पथरीली है, जो सघन वनों से आच्छादित है।

* सेट, नेट, एम.फिल, पी-एच.डी., इतिहास विभाग राजकीय महाविद्यालय, मुनस्यारी (पिथौरागढ़) उ.ख.

1857 के आन्दोलन से पूर्व लार्ड डलहौजी की व्यपगत नीति के अन्तर्गत “इनाम कमीशन” का गठन किया गया था। इस कमीशन की अनुशंसा पर भारत की सब छोटी बड़ी जमीदारियों में से करीब 21 हजार को जब्त करके कम्पनी के राज में मिला लिया गया।⁵ भूषण सारंग कृत रामगढ़ के राजा तब और अब के अनुसार कालान्तर में ईस्ट इंडिया कम्पनी के मध्य क्षेत्र के अंग्रेज पदाधिकारियों ने वैध उत्तराधिकार एवं रियासत के प्रबंध को लेकर रामगढ़ रियासत को “कोर्ट ऑफ वार्डस” के अधीन कर, अंग्रेजी कम्पनी के एक तहसीलदार को नियुक्त करके उसका संचालन अपने हाथों में ले लिया। यह कथन निर्विवाद है किन्तु रामगढ़ रियासत किस आधार पर और कब कोर्ट ऑफ वार्डस के हाथों सौंपी गयी यह विवाद का विषय रहा है। इस संबंध में तत्कालीन ऐतिहासिक दस्तावेजों के आधार पर कुछ भी स्पष्ट नहीं है लेकिन परवर्ती इतिहासकारों ने इस विषय में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं यथा—

1. विक्रमाजीत सिंह का मस्तिष्क स्वस्थ नहीं था और उसे शासन करने के अयोग्य समझा गया। अतएव अंग्रेजी सरकार ने शासन प्रबंध अपने हाथ में लिया और वहां एक तहसीलदार नियुक्त कर दिया तथा राजा और परिवार के भरण पोषण के लिए वार्षिक वृत्ति बांध दी।⁶
2. 1851 ई. में रानी अवन्तीबाई की इच्छा के विरुद्ध अंग्रेजों द्वारा रामगढ़ राज्य की देखभाल के लिए एक अंग्रेज तहसीलदार की नियुक्ति से उन्हें अपमानित होना पड़ा।⁷
3. अंग्रेजों ने “कोर्ट ऑफ वार्डस” के बहाने 54-55 में राजा के इन्तजाम के लिए शेखमुहम्मद नजीर और शेख अब्दुला को रामगढ़ में रखे थे।⁸
4. अंतिम राजा विक्रमाजीत सिंह को पागल कहा जाता था इस कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी के उच्च पदाधिकारी ने रामगढ़ क्षेत्र को कोर्ट कर लिया और उसके पदाधिकारी रामगढ़ में बैठकर हुकुमत करने लगे।⁹
5. अंग्रेज अपनी कुटिलता से वाज नहीं आये और उन्होंने रानी के प्रवल विरोध के बाद भी सन् 1851 में रामगढ़ राज्य की देखभाल के लिए एक अंग्रेज तहसीलदार की नियुक्ति कर दी।¹⁰
6. राजा विक्रमाजीत की मृत्यु के उपरान्त अंग्रेजों ने रामगढ़ के राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। राज्य का शासन प्रबंधन “कोर्ट ऑफ वार्डस” द्वारा किया जाने लगा। अंग्रेजों ने राजकीय परिवार के सदस्यों के लिये पेंशन बांध दी थी।¹¹
7. सन् 1851 में ही रामगढ़ की रियासत को अंग्रेजों ने राजा विक्रमादित्य को पागल करार देकर कोर्ट ऑफ वार्ड के हाथों सौंप दिया था और राजा विक्रमादित्य एक दिन रानी की गोद में दो अल्पवयस्क कुमारों को छोड़कर चल बसे।¹²
8. कालान्तर में अंग्रेजों को पता लगा कि राजा धार्मिक कार्यों में अधिक रुचि लेते हैं इसलिए उन्हें विकृत मस्तिष्क घोषित कर दिया। दूसरी बात यह थी कि राजा के दोनों पुत्र भी नाबालिग थे अतः उत्तराधिकारी भी कोई योग्य नहीं है और गोद ले नहीं सकते यह सोचकर अंग्रेजों ने षड़यंत्र कर 13 दिसम्बर 1853 को रामगढ़ राज्य को कोर्ट ऑफ वार्डस के अन्तर्गत करके अंग्रेज अधिकारी नियुक्त कर दिये।¹³

अतः उपरोक्त प्रकट मतों की विवेचना से स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रामगढ़ रियासत को किस आधार पर कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन किया गया। अधिकांश इतिहासकारों की दृष्टि से रामगढ़ राज्य की अधीनता का मुख्य कारण राजा विक्रमाजीत का पागल या अस्वस्थ मस्तिष्क हो जाना था, किन्तु यह सत्य नहीं है। चूंकि तत्कालीन परिस्थितियों में अंग्रेजों द्वारा भारतीयों की कटु सच्चाईयां लिख पाना संभव नहीं था इस कारण उन्होंने कुत्सित विचारधारा से जो लिखा, भारतीय इतिहासकारों ने भी उसी को आधार मानकर प्रस्तुत कर दिया। अंग्रेजों की दृष्टि से स्वातंत्र्य आन्दोलन ही एक पागलपन था और वे आन्दोलनकारियों को प्रायः विद्रोही और वगावती कहा करते थे जब कोई विद्रोही संगठित होकर निरन्तर उनके विरुद्ध संघर्षरत रहता तो उसे वे जंगली (डाकू) घोषित कर देते थे या पागल। राजा विक्रमाजीत के निरन्तर आन्दोलन के फलस्वरूप उन्हें पागल घोषित कर दिया गया। इसके पर्याप्त विवरण के लिए अंग्रेज इतिहासकार रडमेन के निम्नवत अभिमत से समझा जा सकता है उसके अनुसार "राजा विक्रमाजीत इस क्षेत्र का प्रमुख विद्रोही था। वह कुछ समय पूर्व से ही रामगढ़ की राजगद्दी पर बैठा था कि कुछ दिनों के बाद में ही वह पागल हो गया और उसकी रियासत को कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन हस्तगत कर लिया गया।"¹⁴

इसका अर्थ यह हुआ कि राजा विक्रमाजीत इस क्षेत्र के प्रमुख आन्दोलनकारी थे और उनका आन्दोलन इस क्षेत्र में अंग्रेजों के लिए एक चुनौती था। अतः वे कुछ समय पूर्व अर्थात् 1850 ई. में रामगढ़ की राजगद्दी पर बैठे और कुछ दिनों के बाद अर्थात् 1851 ई. में जब अंग्रेजों ने रामगढ़ को तहसील बनाकर मंडला जिले के अन्तर्गत कर दिया और रामगढ़ का प्रशासन कम्पनी द्वारा नियुक्त तहसीलदार द्वारा किया जाने लगा। रामगढ़ में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से राजा स्वभावतः क्रोधित हो उठा और उसने शीघ्र ही उनके विरुद्ध क्रान्ति का झंडा खड़ा कर दिया।

विद्रोहियों का प्रमुख केन्द्र रामगढ़ और सोहागपुर था निःसन्देह राजा के इस वृहद आन्दोलन से अंग्रेज घबरा गये किन्तु वह अंग्रेजों द्वारा लिखा जाना संभव नहीं था। अतः इस आन्दोलन के कारण राजा विक्रमाजीत को पागल घोषित कर दिया और कालान्तर में रामगढ़ रियासत को कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन कर दिया गया।

रामगढ़ रियासत को अंग्रेजों ने कब कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन हस्तगत किया इस संबंध में भी सभी इतिहासकार एकमत नहीं हैं जैसे कि उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है जिसमें कई इतिहासकारों ने कोर्ट ऑफ वार्डस लागू होने की तिथि 13 दिसम्बर 1851 माना है किन्तु यह तिथि सही नहीं है क्योंकि 1851 ई. में रामगढ़ को तहसील बनाया गया था और उस तहसील के प्रबंध हेतु कम्पनी ने एक तहसीलदार को नियुक्त किया था। कई इतिहासकारों ने रामगढ़ में तहसील स्थापना वर्ष को ही कोर्ट ऑफ वार्डस के लागू होने की तिथि मान लिया है जो कि प्रथम दृष्टि में ही असत्य प्रतीत होती है।

सारंग भूषण के अनुसार रामगढ़ रियासत का कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन होने का वर्ष 1854-1855 है यह तिथि 1 वर्ष के बाद के नियुक्त तहसीलदारों की अवधि को प्रदर्शित करती है न कि कोर्ट ऑफ वार्डस के लागू होने की तिथि को इस संबंध में वे एक अज्ञात राजा रानी रामगढ़ द्वारा लिखित अंग्रेज अफसर को आवेदन पत्र से साभार लिखते भी हैं सन् 1854

ई. से लगातार सन् 1855, 30 जुलाई 1869 ई. मुन्शी सैययद मुहम्मद नजीर सुपरडेंट तह कैयत दे है।¹⁵

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने 1854 ई. से कार्यरत एक तहसीलदार के कार्यकाल का विवरण एक आलेख के आधार पर प्रस्तुत किया है इसमें ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि रामगढ़ रियासत में कोर्ट ऑफ वार्डस की स्थापना 1854 ई. में ही हुई है अतः 1854 ई. की तिथि रामगढ़ राज्य में कोर्ट ऑफ वार्डस लागू हो जाने के बाद की तिथि है।

इस संबंध में दूसरी तिथि कीतिवर्धन उपाध्याय ने प्रस्तुत की है उनके अनुसार रानी और उनके दोनों नाबालिग पुत्र रामगढ़ राज्य में उत्तराधिकारी थे किन्तु जबलपुर के तत्कालीन कमिश्नर मेजर ईर्सकाईन ने सागर एवं नर्मदा क्षेत्र के सेक्रेटरी को हटाकर परगना कोर्ट स्थापित किया और इस आशय का एक पत्र 13 दिसम्बर 1853 को आगरा लिखा जिसमें रामगढ़ रियासत कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन चली गयी।¹⁶ इस तिथि को डॉ. रूप किशोर शास्त्री ने भी प्रस्तुत किया है। अतः तत्कालीन सामयिक घटनाओं का क्रमबद्ध अध्ययन करने के पश्चात यह तिथि ही सत्यता के अत्यन्त निकट प्रतीत होती है।

1861 ई. के मध्य प्रान्त के निर्माण से पूर्व सागर नर्मदा क्षेत्र 1820 ई. से उत्तरी पश्चिमी प्रान्त का एक कमिश्नरी डिवीजन था। उत्तरी पश्चिमी प्रान्त का मुख्यालय आगरा था। निसन्देह सागर नर्मदा क्षेत्र के तत्कालीन कमिश्नर डब्ल्यू.सी. ईर्सकाईन ने जिसका मुख्यालय जबलपुर था 13 दिसम्बर 1853 को रामगढ़ राज्य को कार्ट ऑफ वार्डस के अधीन हस्तगत कर आगरा के लेफ्टिनेंट गर्वनर को लिखा होगा।

अतः रामगढ़ के राजा विक्रमाजीत जो कि अभी कुछ समय पूर्व से ही सिंहासनासीन हुये थे उनकी स्वातंत्र्य आन्दोलन की गतिविधियों को दृष्टिगत रखते हुए उनको पागल घोषित कर दिया। इन विषम परिस्थितियों में राजा की रानी अवन्ती बाई ने रियासत की बागडोर सम्भालने की कोशिश की थी किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी के पदाधिकारियों ने उसके अल्पव्यस्क राजकुमारों को वैध उत्तराधिकार को भी अमान्य करते हुये 13 दिसम्बर 1853 ई. को रामगढ़ रियासत को कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन कर दिया। निःसन्देह यह ब्रितानियां हुक्मरानों की व्यपगत नीति का निकृष्टतम ज्वलंत उदाहरण था। वर्तमान में रामगढ़ मध्यप्रदेश के डिण्डोरी जिले के अन्तर्गत अमरपुर विकास खण्ड में सघन वनों के मध्य 'खरमेर' नदी के किनारे एक छोटा सा ऐतिहासिक गाँव है।

1. वर्मा डॉ. वृन्दावन लाल, पूर्वोक्त, पृ. 101
2. पंडा वी.पी., मण्डला जिले का भूगोल पृ. 9
3. वही पृ. 10
4. वही पृ. 9
5. सुन्दरलाल, पूर्वोक्त पृ. 803 द्वितीय खण्ड
6. मिश्रा, डॉ. द्वारिका प्रसाद, पूर्वोक्त पृ. 82
7. वमा, डॉ. वृन्दावनलाल, पूर्वोक्त पृ. 18
8. भूषण, सारंग, पूर्वोक्त पृ. 43
9. सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारतीय डाक टिकिट प्रथम दिवस आवरण 20.3.88 चतुर्वेदी वटुक साप्ताहिक हिन्दुस्तान पृ. 43, 20.8.1986

10. चंद्रा, ऊषा, सन् 57 के भूले विसरे शहीद पृ. 81
11. उपाध्याय, डॉ. राजेश कुमार, धर्म योग पृ. 59, 8 अक्टूबर 1978
12. शास्त्रि, डॉ.रूप किशोर, ऑल इण्डिया वार्ता न्यू देहली, 20.3.1988
13. रडमेन, एफ.आर.आर., मण्डला जिला गजेटियर 1912 पृ. 257
14. भूषण, सारंग, पूर्वोक्त पृ. 90
15. उपाध्याय, कीर्तिवर्धन कादम्बिनी मासिक दिसम्बर 1987
16. वहीं ।

अटल विहारी वाजपेयी : विपक्ष के नेता के रूप में संसदीय मर्यादाओं के संवर्धन में योगदान

डॉ. सुरजीत सिंह भदौरिया*

संसदीय शासन प्रणाली में विपक्ष का सर्वोपरि महत्व है। जिम्मेदार विपक्ष संसदीय प्रणाली के सफल संचालन में निर्णायक भूमिका निभाता है। संसदीय राज व्यवस्था में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से प्रभावी विपक्ष मूलतः दो काम करता है। पहला, सत्ताधारी दल की नीतियों और कार्यक्रमों की रचनात्मक आलोचना प्रस्तुत करता है। दूसरा, विपक्षी दल अथवा दलों का समूह सत्ताधारी दल की सदन में अथवा दलों का समूह सत्ताधारी दल की सदन में अथवा आम चुनाव में पराजय होने पर वैकल्पिक सरकार बना सकता है। साथ ही संसद के सफल संचालन में सत्ता पक्ष के साथ-साथ विपक्ष की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है और इसके लिए संसदीय मानदंडों और मर्यादाओं का अनुपालन अति आवश्यक है।

भारत में संसदीय मानदंडों और परिपाटियों के विकास की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही है कि विपक्ष की भूमिका का विधिवत रूप से स्वीकार किया गया है। संसद में विपक्ष के नेता को अपने कृत्यों का प्रभावी ढंग से निर्वहन करने में समर्थ बनाने के प्रयोजन से जनता पार्टी सरकार द्वारा वर्ष 1977 में संविधान संशोधन द्वारा संसद के विपक्षी नेता, वेतन और भत्ता अधिनियम 1977 शामिल किया। संसद में विपक्ष के नेता को कैबिनेट मंत्री का दर्जा प्रदान किया गया।¹

10वीं लोकसभा में 26 जुलाई 1993 को लोकसभा अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल ने कहा कि— 'मुझे सभा को सूचित करना है कि संसद सदस्य वेतन, भत्ता और पेंशन अधिनियम 1977 की धारा 2 क निबन्धनों के अनुसार मैं लोकसभा में भारतीय जनता पार्टी के नेता श्री अटल विहारी वाजपेयी को तत्काल प्रभाव से विपक्ष के नेता के रूप में मान्यता देता हूँ। वह संसद का कार्य ठीक ढंग से चलाने में हमेशा समर्थन देते रहे हैं।² प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव ने श्री अटल जी का स्वागत करते हुए कहा कि विपक्ष भारतीय संसद को विश्व का सर्वश्रेष्ठ लोकतंत्र के रूप में स्थापित करने में मदद करेगा।³ अटल विहारी वाजपेयी दसवीं लोकसभा में 26 जुलाई 1993 से 10 मई 1996 तक और 11 वीं लोकसभा में 1 जून 1996 से 4 दिसम्बर 1997 तक विपक्ष के नेता रहे।

संवैधानिक रूप से अटल विहारी वाजपेयी का नेता प्रतिपक्ष के रूप में कार्यकाल भले ही छोटा रहा हो लेकिन उन्हें विपक्ष के नेता के रूप में भारतीय राजनीति में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अटल जीने अपने राजनैतिक जीवन के पाँच दशक भारतीय संसद में विपक्ष में रहकर गुजारे हैं तथा देश के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सम-सामयिक मुद्दों पर समय-समय पर संसद के अन्दर और बाहर अपने विचार व्यक्त किए हैं। अटल जी ने 15 मई 1957 को अपने संसदीय जीवन के पहले भाषण में ही लोकसभा में अपनी कार्यशैली स्पष्ट करते हुए कहा था— 'मैं विरोधी दल में खड़ा हूँ लेकिन विरोध के लिए विरोध करना मेरा उद्देश्य नहीं हो सकता। इस सदन में भारतीय जनसंघ के सदस्यों की संख्या यद्यपि कम है

* सहायक प्राध्यापक (राजनीति विज्ञान), शास. महाविद्यालय, बालाजी, मिहोना (भिण्ड)

किन्तु हमारे सामने स्वर्गीय डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी का आदर्श है, और हम इस बात का प्रयत्न करेंगे कि उससे अनुप्रमाणित होकर राष्ट्र-निर्माण के महान कार्य में अपना भी योगदान दें।⁴

संसदीय परम्पराओं का उल्लेख करते हुए अटल जी ने कहा है कि “जब मैं पहली बार 1957 में लोकसभा का सदस्य बना तो उस समय पण्डित जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री थे। वे सदन के नेता भी थे। नियमित रूप से बैठकों में भाग लेते, उपस्थित रहते, चर्चा में योगदान देते, हस्तक्षेप की आवश्यकता होती तो हस्तक्षेप करते, प्रतिपक्ष का ध्यान रखते। वे स्पीकर को पूरा आदर देते थे। एक बार विशेषाधिकार का मामला उठाया गया। मेरे प्रस्ताव को स्पीकर ने स्वीकार कर लिया। नेहरू जी सदन में थे, उन्होंने कहा, ‘अध्यक्ष महोदय, यह विशेषाधिकार का मामला मामूल नहीं होता है।’ लेकिन सदन तैयार नहीं था। नेहरू जी ने सदन का मूल देखा, प्रतिपक्ष का तेवर देखा और सारा मामला विशेषाधिकार समिति को सौंप दिया। उस समय पण्डित नेहरू ने जो कहा, ‘जब सदन का एक महत्वपूर्ण वर्ग यह महसूस कर रहा हो कि कुछ न कुछ किया ही जाना चाहिए तब बहुमत के लिए यह कतई उचित नहीं है कि सदन की इच्छा को दरकिनार कर दिया जाए। मेरे विचार से इस मामले को ताक पर रख देने का सुझाव उचित नहीं होगा, क्योंकि इससे यह साफ झलकेगा कि मामले को किसी-न किसी प्रकार दबाने का अथवा तथ्यों को छुपाने का प्रयास किया गया है। यह अच्छी बात नहीं होगी कि इस प्रकार की भावना उत्पन्न की जाए।’⁵

संसद में अपने विरोध प्रदर्शन के तरीके के संबंध में अटल जी ने कहा कि ‘मुझे याद है जब मैं पहली बार संसद में आया तो बोलने के लिए समय नहीं मिल पाता था। एक बार नेहरू जी द्वारा सदन में लाए गये विदेशनीति संबंधी प्रस्ताव पर मैं बोलना चाहता था, लेकिन स्पीकर साहब ने कहा कि समय नहीं है, आपकी पार्टी बहुत छोटी है, आपको मौन धारण करना चाहिए। इसके विरोध में मैं वाक-आउट कर गया। लेकिन वाक-आउट एक लोकतांत्रिक तरीका है, संसदीय आचरण का हिस्सा है। अब हम भीतर जाकर सदन की कार्यवाही में विघ्न डालें, उससे तो अच्छा है कि बाहर ही रहें। यह बात अलग है कि ज्यादा दिन बाहर नहीं रहना चाहिए, लेकिन कभी-कभी असहयोग करना आवश्यक हो जाता है। असहयोग का रास्ता गांधी जी ने दिखाया था। उस पर चलने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, लेकिन वह रास्ता संसद में जाकर समाप्त होना चाहिए। यह लोकतंत्र का युग है। भारत संसार का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। दुनिया हमारी तरफ देख रही है। इस परीक्षा की घड़ी में विफल होने की गलती हम नहीं कर सकते।’⁶

अटल जी ने विदेशमंत्री के रूप में कार्य करत हुए विशेषाधिकार हनन के प्रस्ताव पर संसद के प्रति अपनी वचनबद्धता को दोहराते हुए कहा— ‘मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैंने किसी विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं किया, मैंने जानबूझ कर किसी तथ्य को नहीं छिपाया, मैंने सदन को गुमराह करने की कोशिश नहीं की। यह सदन मेरे लिए लोकतंत्र का मंदिर है। गत बीस वर्षों में मैंने इस सदन की मर्यादा का पालन करने का प्रयत्न किया है। जब मैं प्रतिपक्ष में बैठता था, तब भी मेरा यह मत था कि यह सदन ठीक तरह चले, और यहाँ वाद-विवाद के आधार पर, बिना नीयत पर आक्षेप किए हुए निर्णय लिए जाएँ।’⁷

भारतीय संसद की 50 वीं वर्षगाँठ के अवसर पर बोलते हुए अटल जी ने कहा कि— 'संसद की अपनी लम्बी पारी में मैंने दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ देखीं हैं। पहली, यह है कि हमारी स्वतंत्रता के प्रारम्भिक दशकों की तुलना में भारतीय लोकतंत्र अब अधिक सुदृढ़ हो गया है। हमारे विविधतापूर्ण समाज के अधिकाधिक वर्गों, विशेषकर दलित, आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्गों के लोगों को अब संसद तथा राज्य विधानमंडलों में यथोचित स्थान प्राप्त हो गया है। हमारे लोकतंत्र का सामाजिक आधार व्यापक और गहरा हुआ है। सभी राजनैतिक दलों ने सामाजिक न्याय के आदर्श को स्वीकार किया है। इसके साथ-साथ राज्यों और केन्द्र की राजनीति में क्षेत्रीय आशाओं—आकांक्षाओं को विगत की अपेक्षा वर्तमान में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति दी गई है। गठबन्धन की राजनीति अपनी जड़े जमा रही है और इससे यह साबित हो रहा है कि यदि सहयोगी दल मिलकर कार्य करें तो यह स्थिर रह सकती है और सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है।' यह भारतीय लोकतंत्र में निःसन्देह एक सकारात्मक प्रवृत्ति रही है।

वही इन 50 वर्षों के दौरान हम सभी को अपने लोकतंत्र में दूसरी नकारात्मक प्रवृत्ति भी देखने को मिली है। वह प्रवृत्ति है— हमारी संसद और राज्य विधानमंडलों के कार्यकरण के गिरते हुए स्तर की। संसद में वाद विवाद कम, शोर-शराबा ज्यादा होता है। चुनाव धन-शक्ति और गुण्डा-शक्ति के बड़े पैमाने पर प्रयोग के कारण दूषित हो गये हैं। दलीय पद्धति दल बदल की अनैतिक प्रवृत्ति के कारण क्षतिग्रस्त हो रही है। न्यायपालिका की निष्पक्षता पर अंगुलियाँ उठने लगी हैं। चुनाव आयोग आरोप—प्रत्यारोप के घेरे में आ गया है। राजनीति का अपराधीकरण हो रहा है। लोकतंत्र का बाहरी ढाँचा बरकरार है, किन्तु उसे भीतर ही भीतर घुन खाये जा रहा है।¹ कुछ राज्य विधानमंडलों में इसकी परिणति हिंसाक रूप में हुई। इस हिंसा से न केवल सदन के साज-सामान और उपस्थित सदस्यों को क्षति पहुँची, बल्कि लोकतंत्र की भावना और मतदाताओं के विश्वास को संभवतः सर्वाधिक क्षति पहुँची है। पीठासीन अधिकारियों तक का बार-बार और कभी-कभी राज्यपालों को दुःसाहसी सदस्यों द्वारा डराया-धमकाया जाता है। सभा में अनुशासन और शालीनता की कमी की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का एक मुख्य कारण किसी भी कीमत पर सत्ता हासिल करने और सत्ता में बने रहने के लिए राजनीतिक दलों के बीच टकराव की स्थिति बनी रहती है। हम इस बात को भूल गए हैं कि संसदीय लोकतंत्र में सत्तारूढ़ और विपक्षी दलों, दोनों को ही सम्मानजनक और महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है।

अटल जी ने अपने संबोधन में आगे कहा कि— 'मुझे यह देखकर दुःख होता है कि प्रतिपक्ष के विचारों को सुनने की इच्छा रखने की प्रवृत्ति कम हो रही है। हमारा देश विविधताओं वाला देश है। राजनीतिक बहुलवाद हमारे लोकतंत्र का मर्म है। इसी से संसदीय वाद-विवाद में जीवंतता और सक्रियता का संचार होता है। संसदीय आचरणका पहला सिद्धान्त इस बात में विश्वास रखता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत व्यक्त करने का अधिकार है बशर्ते इसे अध्यक्ष द्वारा निर्धारित नियमों के भीतर रहकर अभिव्यक्त किया जाए। साथ ही जो सबसे महत्वपूर्ण बात है, वह है— आत्मानुशासन का गुण। सभा में अनुशासन और शालीनता मात्र आदेशों के आधार पर नहीं लायी जा सकती। यद्यपि लोग निश्चित तौर पर यह अपेक्षा रखते हैं कि पीठासीन अधिकारीगण सभा की कार्यवाही का संचालन करते समय और अधिक दृढ़ता से पेश पायें, तथापि हमसे से हर कोई दंडात्मक कार्यवाही की सीमाओं से

परिचित है। अन्ततः यही बात सामने आती है कि आत्मानुशासन तथा अपने सचेतकों के माध्यम से राजनीतिक दलों द्वारा लागू किए गए अनुशासन के अलावा अनुशासनहीनता का कोई बेतहर प्रतिकारक नहीं है।¹⁰ राजनीतिक मतभेद क बावजूद कुछ मामलों में सबसे मिलाकर चलने की जो पुरानी पद्धति है, वही लोकतंत्र का आधार है।

संसद के अन्दर सांसदों के गिरते आचरण पर दुःख प्रकट करते हुए अटल जी ने कहा— 'अध्यक्ष महोदय, मैं 1957 से सांसद हूँ। कभी-कभी इच्छा होती है कि इस सदन में बैठना नहीं चाहिए। लेकिन 'न दैन्यं न पलायनम्' हम भाग तो नहीं सकते, मगर ठीक तो कर सकते हैं। क्या यह जरूरी है कि वेल में बिना जाए खबर नहीं बनेगी? बनेगी, बनानी चाहिए। मीडिया को भी इस बात की आदत डालनी चाहिए। नौजवान क्या कहेंगे, नई पीढ़ी क्या कहेंगी? विधानमंडलों में क्या हो रहा है? चप्पलें फेंकी जा रही हैं। किसी को मुर्दा बनाकर ले आए और टेबल पर लिटा दिया। मैं एक दल को दोष नहीं दे रहा हूँ। मैं इस सवाल पर अपने दल से भी जुझ रहा हूँ। लेकिन मैं हार मान लेता हूँ। वे कहते हैं कि और तो रुकते नहीं हैं। अरे और नहीं रुकते तो आप तो आप तो रुकिए। मगर सब मिलकर सामूहिक फैसला कर सकते हैं। अगर लोकतंत्र की रक्षा होनी है तो उसका आरंभ सदन से होना चाहिए, हमारे अपने व्यवहार से होना चाहिए। इसलिए नहीं कि आज विरोधी सत्ता में है। विरोधी तो ज्यादा दिन रहने वाले नहीं हैं। कोई दूसरा आएगा, कोई चिंता नहीं है। लेकिन आचार का एक मानदंड, व्यवहार की एक कसौटी, संसार क सबसे बड़े लोकतंत्र का आगे बढ़ने का एक तरीका होता है।'¹¹

अटल जी ने आगे कहा कि— '40 साल से ऊपर का मेरा संसद का अनुभव कभी-कभी मुझे बहुत पीड़ित कर देता है, दुःखी कर देता है। हम किधर जा रहे हैं। सारे मूल्य जैसे ताक पर रख दिये गये हैं। मैं किसी एक पार्टी को इसके लिए दोष नहीं देता क्योंकि पार्टी समाज में से उत्पन्न हुई है और समाज के समर्थन से खड़ी है। निर्वाचित होकर आई है। लेकिन कुछ मूल्य ऐसे हैं, जिनके साथ समझौता नहीं होना चाहिए। सरकारें बदलेंगी। कोई सरकार स्थिर नहीं है। लेकिन संसद रहेगी, विधानमंडल रहेगा और वह अगर रहेगा तो उसे चलाना होगा, नियमों क अनुसार, निर्देशों के अनुसार, परम्परा के अनुसार, मर्यादा में रहकर, सीमाओं के भीतर। स्वतंत्रता और उच्छश्रृंखलता में अन्तर है। स्वतंत्रता में अपने को बाँधने का भाव है। कोई दूसरा बाँधे तो उसका विरोध करेंगे। इसीलिए पराधीनता के खिलाफ लड़े, लेकिन हम स्वेच्छा से ऐसे बंधन में बंध सकते हैं, जो पूरे समाज का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का दावा करते हैं और दावा ठीक भी है। संख्या की दृष्टि से हम सबसे बड़ा लोकतंत्र हैं। लेकिन अगर कोई विदेशी हमारे सदन की लॉबी में बैठकर देखें, जिस दिन हमारे सदस्य पूरे जार में हों, हमारे लोकतंत्र के बारे में क्या राय बनाएगा।

इस स्थिति से उभरने के लिए अटल जी ने सुझाव देते हुए कहा कि— मैंने अभी नेताओं को, सदन में अलग-अलग दलों क नेताओं का एक पत्र लिखा है। मैं वर्षों से इस सदन में माँग करता रहा हूँ कि अगर हमें बाहर के वातावरण को प्रभावित करना है तो इस सदन को ठीक तरह से चलाना चाहिए, शालीन तरीके से चलाना चाहिए, चाहे कोई भी सरकार हो। क्या जरूरी है कि प्रश्नकाल में ही शोर-शराबा कर दिया जाए? प्रश्नकाल तो सदस्यों का काल है। उसमें मंत्रियों को कठघरे में खड़ा किया जा सकता है। लेकिन शोर-शराबा बिना खबर नहीं बनती है। खबर बनाने के चक्कर में हम लोकतंत्र से बेखबर हो रहे हैं। मैंने तीन

सुझाव रखे हैं—1. प्रश्नकाल में उपद्रव नहीं होना चाहिए 2. किसी को वैल में नहीं जाना चाहिए और 3. राष्ट्रपति के अभिभाषण में व्यवधान नहीं होना चाहिए।

संसदीय मर्यादाओं एवं मानदंडों को बनाये रखने के संबंध में अटल जी ने कहा—‘बाहर की चुनौतियों का हम मिलकर सामना करते हैं, लेकिन घर के भीतर लोकतांत्रिक संस्थाओं का अवमूल्यन न होने पाये, क्षरण न होने पाये, इसकी देखभाल की जरूरत है। जनप्रतिनिधियों की साख घटती नहीं चाहिए। जन-प्रतिनिधि संस्थाओं की विश्वसनीयता में कभी नहीं आनी चाहिए। हमारे लोकतंत्र का पौधा मजबूत है, लेकिन ऐसा ना हो कि वह ऊपर-ऊपर तो बढ़ता जाये पर उसकी जड़े खोखली होती जायें। यही कर्तव्य हमारे सामने है।’¹⁴

संक्षेप में, अटल जी का मानना रहा है कि हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि—इस महान राष्ट्रीय संस्थान के क्या उद्देश्य थे, और आज हमने उसकी क्या गत बना दी है, हमें इसे एक बार फिर शिष्ट विचार-विमर्श और तर्कसंगत वाद-विवाद का सम्य मंच बनाना होगा। संसद हमारे गणतंत्र का आधार स्तंभ है, इसका महत्व इसलिए भी ज्यादा है, क्योंकि यह राष्ट्रीय मुद्दों पर बहस के लिए सरकार और विपक्ष को एक मंच प्रदान करता है। हमारी संसद की परम्पराएं शानदार रही हैं, हालांकि कभी-कभी तेज बहस भी होती है। लेकिन यही बहस सरकार को अपनी नीतियों को सुधारने और बेहतर बनाने में मदद भी करती है। बहस भले ही कितनी तीखी क्यों न हो, सरकार और विपक्ष के विचारों में कितनी भी असमानता क्यों न हो, सदन की प्रतिष्ठा और शिष्टाचार बनाए रखना चाहिए अन्यथा संसद अपनी जिम्मेदारी को पूरा नहीं कर सकती।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र में नेता प्रतिपक्ष के रूप में अटल विहारी वाजपेयी का चिंतन जनकल्याणकारी और लोकतांत्रिक रहा है। लंबे समय तक विपक्ष में रहने वाले अधिकतर नेता तीखी आलोचना और कटु बोलने वाले हो जाते हैं। नकारात्मक सोच उनके व्यक्तित्व का हिस्सा बन जाती है, लेकिन अटल जी नकारात्मक सोच से पूरी तरह अलग हैं। उन्होंने संसदीय मर्यादाओं और दायित्वों का पूरा पालन किया है। साथ ही अटल जी ने एक राष्ट्रवादी और प्रबुद्ध नेता के रूप में भारतीय संसद में प्रतिपक्ष की भूमिका और महत्ता को सम्मानीय ऊँचाई और गरिमा प्रदान की है।

सन्दर्भ

1. संसदीय पत्रिका, खण्ड-47, जून 2001, अंक-2, लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली, पृ. 22
2. 26 जुलाई, 1993 लोकसभा वाद-विवाद, लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली, पृ. 309,
3. 27 जुलाई 1993 हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, पृ. 11
4. 15 मई 1957, लोकसभा वाद-विवाद खण्ड-1, अंक-5 लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली, पृ. 207
5. कौशिक अशोक, राष्ट्रीय अस्मिता के पुरोधा, अटल विहारी वाजपेयी (विश्लेषणात्मक जीवनी) नई दिल्ली, 2001, पृ. 171
6. शर्मा, डॉ. चन्द्रिका प्रसाद, संपादक, अटल विहारी वाजपेयी कुछ लेख कुछ भाषण, नई दिल्ली, 1996 पृ. 228

स्तुति साहित्य : अर्थ, स्वरूप और महत्त्व

डॉ. माधुरी यादव*

‘स्तुति’ शब्द का सामान्य अर्थ है— ‘प्रशंसा परक कथन’। इस संदर्भ में ‘स्तुति’ ऐसी काव्यमयी कृति को कहा जाता है जिसके द्वारा अपने आराध्य या श्रद्धास्पद व्यक्ति की प्रशंसा की जाती है। स्रोत्र, स्तव आदि शब्द इसके पर्यायवाची माने जाते हैं। कोष में भी स्तव, स्तुति तथा नुति शब्दों को परस्पर पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है।¹ संस्त शब्दार्थ कौस्तुभ के अनुसार भी स्तुति के समानार्थी या पर्यायवाची शब्द हैं— “स्रोत्र”, प्रशंसा, विरुदावलिः, प्रशंसात्मक गीतम्। कविता स्तुत्यात्मक श्लोकाः। जगद्धर भट्ट नामक विद्वान् ने स्तुति और स्तव को समानार्थक माना है, उन्होंने अपने ग्रंथ स्तुति कुसुमाजलि में एक स्थल पर ‘स्तवावलि’ शब्द का प्रयोग किया है।

पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के अनुसार ‘स्तु’ धातु से करण में ‘त्र’ (ष्ट्रन्) प्रत्यय लगने से स्रोत्र शब्द की निष्पत्ति होती है।² इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है जिसके द्वारा किसी की स्तुति की जाए, ऐसा वाक्य समूह स्रोत्र है। स्तुति और स्रोत्र दोनों ही शब्दों की निष्पत्ति स्तु+क्तिन् तथा स्तु+अप् से हुई है। उपर्युक्तानुसार कहा जा सकता है कि प्रशंसापरक वाक्य या पदीय रचना स्तुति है।

‘स्तुयतेऽनेन इति स्तोत्रम्’ व्युत्पत्ति से बना यह शब्द अत्यन्त व्यापक है। लोक और काव्य दोनों में इसकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। विश्व की प्रायः सभी जाति और समाजों में अपने-अपने धार्मिक विश्वासों और उपासना स्थलों आदि में अपनी-अपनी भावनाओं के प्रकटीकरण हेतु स्तुति या स्रोत्रपाठ की परंपरा है।

अपने आराध्य को आष्ट और संतुष्ट करने के जितने भी शास्त्रसम्मत साधन बतलाए गए हैं, स्तुति उनमें सर्वोपरि है। इसीलिए ‘स्तुत्या वशं यान्ति देवाः’ जैसी उक्ति प्रचलित हुई। कठोपनिषद् में भी स्तुति को अपने आराध्य को प्राप्त करने का सुगम साधन बताया गया है।

**यः सेतुरीजानानामक्षर ब्रह्म यत् परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शक्रेमहि।।³**

इस मंत्र में यमराज ने परमात्मा से उन्हें जानने की शक्ति प्रदान करने के लिए प्रार्थना करके यह भाव दर्शाया है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम को जानने का सबसे उत्तम और सरल साधन स्तुति है। वाचस्पत्यम् में “स्तवे गुणकर्मादिभिः प्रशंसने भरः” ऐसा कहकर इसे चार भागों में विभक्त किया गया है। द्रव्यस्रोत्र, कर्मस्रोत्र, विधि स्रोत्र और अभिजन स्रोत्र।⁴ यही मान्यता पुराणों में उपलब्ध होती है। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न-भिन्न श्रुतियों का विधान होता है। ऋक्, यजुः तथा साम ये तीनों वेद पूर्ववत् देवताओं से युक्त रहते हैं। विधि, स्रोत्र तथा अग्निहोत्र ये भी पूर्व युगों के समान पिछले युगों में प्रचलित रहते हैं। द्रव्य स्रोत्र, गुणस्रोत्र, कर्मस्रोत्र और अभिजन स्रोत्र, ये चार प्रकार के स्रोत्र सभी

* गवली पलासिया, महु, जिला इंदौर (म.प्र.)

मन्वन्तरो में वेदों से भिन्न-भिन्न रूप में आविर्भूत होते हैं। उन्हीं से ब्रह्म – स्रोत्र पुनः-पुनः प्रवृत्त होता है।⁵

स्तुति या स्रोत्र काव्य का स्वरूप

स्तुति-काव्य की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। स्तुतियों में निहित जो तत्त्व इसके स्वरूप का निर्धारण करते हैं, वे इस प्रकार हैं— 1. स्तुतिकर्ता का वैयक्तिक पक्ष या आत्मानुभूति, 2. आराध्य के प्रति श्रद्धा और निष्ठा 3. भावप्रवणता 4. भावसंयोजन 5. अकृत्रिम सहज अभिव्यक्ति 6. गीतिमत्ता।

उपर्युक्तानुसार प्रत्येक तत्त्व परस्पर एक दूसरे से संपृक्त होकर स्रोत्र काव्य का सृजन करते हैं। स्रोता अपने अंतःकरण में जो कुछ सुख-दुःख अनुभव करता है, या वे बातें जो उसको प्रसन्नता देती हैं अथवा टीस पहुँचाती हैं वह सब अपने आराध्य के चरणों में निःसंकोच उड़ेलकर रख देता है यही संवेदना प्रबल आत्मानुभूति में परिणित होकर पद्यमय स्वर – लहरी के रूप में प्रकट होकर स्रोत्र-काव्य का सृजन करती है।

स्तुतिकाव्य में स्रोता को अपने आराध्य पर पूर्ण विश्वास होता है। उसकी निष्ठा किसी भी परिस्थिति में चलायमान नहीं होती है। आराध्य के अस्तित्व के प्रति अटल विश्वास के अभाव में स्तुति का सृजन संभव ही नहीं है। स्तुति – काव्य का यह अनिवार्य तत्त्व है।

स्तुति में तर्क की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती है। बल्कि तर्क तो स्तुति – सृजन में बाधा उत्पन्न करता है। स्रोता की भाव प्रवणता ही स्तुति का हेतु होती है। कई बार यह इतनी प्रबल और सान्द्र होती है कि वह वैयक्तिक न होकर सार्वदेशिक हो जाती है। पौराणिक पात्र कुंती, प्रह्लाद, भीष्म आदि की भावप्रवणता अनेक लोग स्वयं में भी अनुभूति करते हैं। स्रोता अपने आराध्य के नाम, रूप, गुणों आदि का स्मरण कर अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ करता है।

प्रत्येक स्तुति की अभिव्यक्ति का मूल या केन्द्रीय भाव होता है। इसी के विस्तार हेतु स्रोता दूसरे भावों की संयोजना करता है। ऐसे में भावानुभूति से ओतप्रोत उत्तम स्तुति काव्य का सृजन स्वयं होने लगता है। इस प्रकार भाव संयोजन स्तुति – काव्य का विशिष्ट तत्त्व है।

स्तुति – काव्य का महत्वपूर्ण तत्त्व है, सहज अभिव्यक्ति। स्रोता अपने अंतर्मन में जो कुछ अनुभूति करता है उसका प्रस्तुतीकरण वह बिना लाग-लपेट के सहज रूप से करता है। वहाँ बोझिल शब्दाडंबर, भाषा की जटिलता को कोई प्रोत्साहन न देकर सहज – सरल अभिव्यक्ति प्रवाह व शैली को अपनाता है। चूँकि यह सहज अभिव्यक्ति सच्चे हृदय से अनुस्यूत होती है इसीलिए प्रभावपूर्ण होने के साथ रस पूर्ण भी होती है।

स्तुति – काव्य में गीतितत्त्व या गेयता का सहज ही समावेश हो जाता है। नाद-सौन्दर्य और भाव संगीत स्तुति के प्रवाह में स्वतः समाहित हो जाते हैं। स्रोत्र की गेयता कानों पर ऐसा सम्मोहन डालती है कि स्तुति पाठ प्रभाव और आनंद का सृजन कर देता है।

भारतवर्ष में अनादिकाल से ही स्तुति-गायन (कथन) की सुदीर्घ परंपरा अव्याहत रही है। विभिन्न कालों में यह क्रम निरंतर रहा। भारतीय परंपरा ज्ञान-विज्ञान व कला का मूल

उत्स खोजने के लिए सदैव वेदों की ओर दृष्टिपात करती है। इस दृष्टि से देखें तो ऋग्वेद का प्रथम मंत्र ही अग्नि देवता की स्तुत्यात्मक सपर्या है।⁶ ज्ञात स्रोतों में उपलब्ध स्तुति-साहित्य का समारंभ वेदों से ही हुआ है। वेदों के मन्त्र भाग के अंतर्गत लगभग सभी सूक्त स्तुतिपरक ही हैं, जिनमें दार्शनिक, वैज्ञानिक या सामाजिक चेतना के संवाहक-तत्त्व अंततोगत्वा किसी न किसी देवता को हो समर्पित हैं, यही कारण है कि वैदिक सूत्रों के चार अनिवार्य तत्त्व होते हैं — देवता, ऋषि, छन्द और विनियोग।

ऋग्वेद के अंतर्गत उषा, अग्नि, इन्द्र, रुद्र आदि की स्तुतियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। अथर्ववेद में की गई रुद्र-स्तुति स्रोत्र-काव्य के सभी लक्षणों पर खरी उतरती है। सामवेद और यजुर्वेद भी विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ का समावेश है। प्रसिद्ध पुरुषसूक्त, शुक्लयजुर्वेद के अंतर्गत समाविष्ट है।⁷ शुक्ल यजुर्वेद का अंतिम अध्याय 'ईशावास्योपनिषद्' है। ईशावास्योपनिषद् के हिरण्यमयेन पात्रेण आदि मंत्र स्तुति-साहित्य के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।⁸ इसी प्रकार अन्य उपनिषदों में भी विभिन्न देवताओं की सुन्दर स्तुतियाँ उपलब्ध हैं।

वैदिक साहित्य, उपनिषदों आदि के क्रम में रामायण, महाभारत में भी स्तुतियाँ विद्यमान हैं। इतिहास — पुराणों में प्रमुख महाभारत को तो पंचम वेद कहा गया है। पुरुषार्थ चतुष्टय में से ऐसा कुछ नहीं है जिनका उल्लेख महाभारत में न हो।⁹ पुराणों के रचनाकर व्यासजी ने महाभारत में भी अनेक स्रोत्र लिखे हैं, जो विभिन्न प्रकरणों में देवताओं से सम्बद्ध हैं, इनमें से कुछ तो अपना स्वतंत्र अस्तित्व और महत्त्व रखते हैं। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीविष्णुसहस्रनाम भीष्मस्तवराज आदि।¹⁰

आदिकाव्य रामायण में भी महर्षि वाल्मीकि ने कथाप्रसंगों अनंतर अत्यंत मनोरम स्तुतियों का सृजन किया है। ग्रंथ के प्रारंभ में ही देवतागण रावण के संहार हेतु ब्रह्माजी की स्तुति करते हैं —

**भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः ।
सर्वान्नो बाधते वीर्याच्छासितुं न शक्नुयः ॥¹¹**

इसी ग्रंथ में आदित्यहृदय-स्रोत्र नामक प्रसिद्ध सूर्य स्रोत्र अगस्त्य ऋषि ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के समक्ष प्रकट किया था, जो आज भी धर्मप्रेमी जनों में लोकप्रिय होकर साधनोपासना का हिस्सा है। रामायण से प्रेरणा प्राप्त रामकथा के जो विभिन्न भाषाओं में प्रसिद्ध ग्रंथ हैं, उनमें भी सुन्दर स्तुतियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। जैसे श्रीरामचरितमानस, कंब रामायण, अध्यात्मरामायण आदि।

हमारा पुराण-साहित्य भी नानाविध स्रोतों से समृद्ध है। भक्ति परक पुराण-ग्रंथों में तर्क की अपेक्षा श्रद्धा विश्वास का आधिक्य होने से स्वाभाविक ही इनमें स्तुतियों का सृजन हुआ है। पुराणों की शृंखला में श्री विष्णुपुराण तथा शिवपुराण में क्रमशः भगवान् विष्णु और शिव की सुन्दर व अर्थपूर्ण स्तुतियों का समावेश हुआ है, जो स्तुति साहित्य में अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। पुराणों और धार्मिक ग्रंथों की यह अनूठी विशेषता है कि यहाँ विभिन्न देवताओं में परस्पर कोई विरोध नहीं है अपितु परस्पर मतभेद रहित अद्भुत समन्वय है। यही कारण है कि शिव, विष्णु की स्तुति करने में संकोच नहीं करते और विष्णु को भी शिव- स्तुति

करने में संतोष और प्रसन्नता होती है। विष्णु आदि देवों के द्वारा शिवपुराण में शिव की स्तुति के प्रथम श्लोक में भगवान् द्वारा भगवान् शिव के सात नामों से सुन्दर संबोधन किया गया है।¹² शिवपुराण में 52 पद्यों का संपूर्ण अध्याय ही शिवस्तुतिमय है।

स्तुतियों के अध्ययन की दृष्टि से श्रीमद्भागवत की स्तुतियाँ अत्यंत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं। विद्वानों ने इस पुराण को 'स्रोत्रों की रत्नमंजूषा' कहकर विभूषित किया है। इसके प्रत्येक स्कंध में स्तुतियाँ उपलब्ध हैं। ये स्तुतियाँ विषय-वस्तु (कथ्य), भावप्रवणता तथा शैली की दृष्टि से अनुपम हैं।

संस्त साहित्य के अन्य प्रमुख स्रोत्र – काव्य

उपर्युक्त वर्णन-क्रम में संस्त साहित्य के प्रमुख स्रोत्र काव्यों का भी अपना महत्त्व है। विद्वानों ने संस्त स्रोत्रों को तीन भागों में वर्गीत करते हुए कहा है— प्रथम भाग में वे स्रोत्र आते हैं जिसमें देवताओं अथवा देव-विशेष की नामावली का परिगणन मात्र है। जैसे गोपालसहस्रनाम आदि। दूसरे भाग में वे स्रोत्र हैं जिनमें अनुभूति की मार्मिकता के स्थान पर शब्दाडंबर आदि चमत्कार – प्रदर्शन के द्वारा अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया जाता है। जैसे रावण द्वारा रचित 'शिवताण्डव स्रोत्र'। तीसरे भाग में वे स्रोत्र हैं जिनके रचयिताओं को हम महाकवि कहने में संकोच नहीं करते। ऐसे स्रोत्रों में अनुभूति का गांभीर्य दर्शनीय है। इनमें वैयक्तिकता, स्रोता की आध्यात्मिक विरहजन्य वेदना तथा उपास्य के प्रति सच्ची भक्ति प्रदर्शित होती है। इन स्रोत्रों में देवता के नख-शिख रूप-सौन्दर्य का वर्णन, उनकी महिमा का स्तवन तथा साथ ही अपनी दीनता (दास्यभाव) की अभिव्यक्ति करते हुए स्रोता उनसे अपने उद्धार की प्रार्थना करता है। संस्त साहित्य में कुछ स्रोत्र अत्यंत प्रसिद्ध हैं जिनका प्रेमपूर्वक गायन, धार्मिकजन करते हैं। जैसे— पुष्पदंत रचित शिवमहिम्नस्रोत्र, बाण रचित चण्डी शतक जिसे प्रथम स्तोत्र माना जाता है, बाण के संबंधी मयूर कवि द्वारा विरचित सूर्य शतकम् (जिसे उन्होंने कुष्ठ रोग निवारणार्थ लिखा गया था) जगद्धर भट्ट रचित स्तुति कुसुमांजलि आदि। इसके अतिरिक्त आद्य शंकराचार्य द्वारा रचित गणेश, देवी, विष्णु, युगल देवता तथा नदी तीर्थ विषयक स्रोत्र जैसे नर्मदाष्टक आदि की एक लंबी श्रृंखला ने स्रोत्र साहित्य को समृद्ध किया है। शंकराचार्य जी के द्वारा रचित कम से कम 280 स्रोत्र श्री वाणी विलास प्रेस से प्रकाशित शंकर ग्रंथावली में छपे हैं। इसके साथ ही अपभ्रंश में रचित जैन तथा अन्य पंथों में अपने स्रोत्र-ग्रंथों की समृद्ध परंपरा है। हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं में भी स्तुति काव्य विपुल प्रमाण में रचे गए। इस प्रकार स्तुति काव्य की समृद्ध परम्परा है जिसने हमारे भारतीय साहित्य को गरिमा प्रदान की है।

संदर्भ सूची –

1. "स्तवः स्रोत्रं स्तुतिर्नुतिः।" – (अमरकोश 1.6.11)
2. "दाम्नीशसयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे"। अष्टाध्यायी, 3.2.182
3. कठोपनिषद् 1.3.2
4. द्रव्यस्रोत्रं कर्मस्रोत्रं विधिस्रोत्रं तथैव च।
तथैवाभिजनस्रोत्रं स्रोत्रमेतच्चतुष्टयम्।। – शब्दवाचस्पत्य पृ. 5392
5. अत्र वो वर्णयिष्यामि विधिं मन्वन्तरस्य तु।
ऋचो यजूषि सामानि यथावत् प्रतिदैवतम्।।

विधिर्होत्रं तथा स्रोत्रं विधिस्रोत्रं तथैव च ।

तथैवाभिजनस्रोत्रं स्रोत्रमेतच्चतुष्टयम् ।।

मन्वन्तरेषु सर्वेषु यथाभेदा भवन्ति ये ।

प्रवर्तयन्ति तेषां वै ब्रह्मस्रोत्रं पुनः पुनः ।। — मत्स्यपुराण, 45.121

6. अग्निमीळे पुरोहितं, यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।

होतारं रत्नधातमम् ।। — ऋग्वेद, 1.1.1

7. शुक्ल यजुर्वेद — 31.20

8. ईशावास्योपनिषद् — 15.16–18

9. धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।

मदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।।—महाभारत, आदिपर्व 65.53

10. महाभारत अनुशासन पर्व, अध्याय, 149

11. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 15.6.11

12. देव देव महादेव लौकिकाचारत्प्रभो ।

ब्रह्मा त्वमीश्वरं शंभुं जानीमः पया तव ।। शिवपुराण 41.1

डॉ. राममनोहर लोहिया का समाजवाद: भारतीय परिप्रेक्ष्य में एक समग्र दृष्टिकोण

अनन्तेश्वर कुमार यादव*

डॉ. राम मनोहर लोहिया की गणना एक ओजस्वी वक्ता, महान स्वन्त्रता सेनानी, लोकतंत्र व समाजवाद का एक वीर योद्धा, एक साहसी आलोचक, स्वतंत्र विचारक, मननशील व सर्वाधिक महान मानवतावादी एवं भारत के प्रमुख समाजवादी चिन्तकों में की जाती है, वे एक ऐसे समाजवादी थे जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। लोहिया का समाजवाद वस्तुतः भारतीय समाज की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया गया है। जिसमें समाज के सबसे निम्न (निचले) स्तर पर खड़े व्यक्ति का भी कल्याण हो सके तथा वह व्यक्ति भी राष्ट्र व समाज के विकास में अपना योगदान दे सके।

समाजवाद को विभिन्न विद्वानों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया। इसी संदर्भ सी.ई.एम. जोड का कथन है कि 'समाजवाद गिरगिट की तरह रंग बदलने वाला धर्म है तथा वे समाजवाद की तुलना एक ऐसी टोपी से करते हैं जो पहनने वाले के आकार के अनुसार आकृति ग्रहण कर लेती है।'

समाजवाद की कोई भी सर्वमान्य परिभाषा अभी तक राजनीतिशास्त्र विषय के अन्तर्गत नहीं है किन्तु विभिन्न विद्वान इस तथ्य पर एकमत हैं कि समाजवाद मुख्यतः व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। व्यक्तिवाद जहाँ राज्य को तटस्थकर्ता की भूमिका में रखता है वहीं समाजवाद राज्य को सक्रियकर्ता मानता है। व्यक्तिवाद का आदर्श स्वतन्त्रता है, जबकि समाजवाद का आदर्श समानता है, वह भी आर्थिक समानता। अतः समाजवाद का ध्येय राज्य के कार्यों के विस्तार के द्वारा समाज के सभी सदस्यों का आर्थिक विकास करना है।

यदि हम भारतीय संदर्भ में अन्य समाजवादी चिन्तकों को देखें तो डा. लोहिया का समाजवाद अन्य सभी समाजवादियों से भिन्न है। लोहिया, नेहरू व गाँधी जी से प्रभावित तो अवश्य थे किन्तु डा. लोहिया के समाजवादी चिन्तन पर नेहरू का अल्प प्रभाव ही दृष्टिगत होता है। डॉ. लोहिया के समाजवाद का मुख्य आकर्षण विशेषतः भारतीय परिस्थितियाँ हैं जबकि नेहरू का समाजवाद अन्तर्राष्ट्रवाद को अपने में समाहित किये हुए हैं। इस प्रकार यदि नेहरू व लोहिया के समाजवाद का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि डॉ. लोहिया का समाजवाद विशेष क्षेत्रीयता (एशियाई) लिये हुए हैं जबकि नेहरू का समाजवाद अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख है।

भारत में समाजवाद को सशक्त बनाने के लिये लोहिया ने किसान श्रमिक प्रजा पार्टी व समाजवादी पार्टी को मिलाकर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। लोहिया का मत था कि हमें विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के महत्व को समझकर घरेलू उद्योगों को उत्साहित करना चाहिए तथा गाँव पर आधारित सामाजिक, आर्थिक विकास को अपनाना होगा। लोहिया ने पूँजीवाद व साम्यवाद दोनों को ही अपूर्ण मानकर लोकतान्त्रिक समाजवाद का समर्थन

* शोधार्थी, हे.न.ग. केन्द्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल

किया। लोहिया ने मार्क्स द्वारा की गयी निजी सम्पत्ति व पूँजीवाद की आलोचना को तो स्वीकार किया किन्तु वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को अस्वीकार किया। उन्होंने सामाजिक जीवन व विकास में मानवीय चेतना की भूमिका को स्वीकार किया। लोहिया ने रूसी साम्यवादियों के द्वारा जिस प्रकार की साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना की गयी थी उसकी भी कटु आलोचना की।

यद्यपि डॉ. लोहिया समाज में समानता विशेषतः, आर्थिक समानता की स्थापना करना चाहते थे किन्तु इसके लिए साम्यवादियों में विशेषतः मार्क्सवादियों द्वारा अपनाये गये क्रान्ति के सिद्धान्त का विरोध किया। उन्होंने इस तथ्य की आलोचना की कि साम्यवादी पूँजीवाद, पूँजीवाद वर्ग व पूँजीवादी राज्य की समाप्ति के सिद्धान्त पर तो चलते थे परन्तु वे नयी समाजवादी व्यवस्था के स्वरूप के बारे में स्पष्ट नहीं थे। इसी कारण डॉ. लोहिया ने भारतीय परिस्थितियों व आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर समाजवादी दर्शन की स्थापना की।

समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लोहिया ने मार्क्सवादी, क्रांतिकारी व हिंसक साधनों को अस्वीकारा। जब त्रावनकोट व कोच्चि के समाजवादी मंत्रीमण्डल ने अपने अधिकारों के लिए प्रदर्शन कर रहे व्यक्तियों के विरुद्ध हिंसा व गोली का प्रयोग किया तो डॉ. लोहिया द्वारा इस कृत्य का विरोध किया गया। इस संदर्भ में डॉ. लोहिया का मत था कि समाजवादी हितों की प्राप्ति के लिए गाँधीवादी सत्याग्रह उपयुक्त है तथा इसका प्रयोग कर हम आर्थिक विकेन्द्रीकरण व समाजवादी आदर्श की प्राप्ति कर सकते हैं। यहाँ यद्यपि लोहिया गाँधीवाद से प्रभावित तो अवश्य थे किन्तु उन्होंने गाँधीवाद के इस मत का विरोध किया कि स्वयं दुख सहकर विरोधी का मन परिवर्तित किया जा सकता है।

डॉ. लोहिया का समाजवाद विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था पर आधारित है जिसके दर्शन हमें गाँधीवाद में भी होते हैं। इस प्रकार लोहिया के दर्शन पर गाँधीवाद का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। अपने समाजवाद की व्याख्या डॉ. लोहिया ने चौखम्भा प्रणाली या चार स्तम्भों वाले राज्य के अन्तर्गत की है।

डॉ. लोहिया ने अपनी पुस्तक 'Marx, Gandhi & Socialism' में लिखा है कि भूख व बेकारी को सहन कर लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह अगले चुनाव की प्रतीक्षा करें। यहाँ डा. लोहिया का स्पष्ट मत था कि हमें सर्वप्रथम समाज में आर्थिक समानता प्रदान करनी होगी। बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक व सामाजिक समानता का कोई मूल्य नहीं है। एक भूखा व गरीब व्यक्ति जो दो समय के भोजन का प्रबन्ध नहीं कर पाता उसके लिए लोकतंत्र, स्वतंत्रता, समानता, न्याय आदि की संकल्पना केवल आदर्शमात्र है क्योंकि ये सब उसकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति में कोई योगदान नहीं कर सकते। अतः आवश्यक है कि सर्वप्रथम समाज में आर्थिक समानता की स्थापना की जाय। आर्थिक समानता से स्वतः ही सामाजिक व राजनैतिक समानता की स्थापना होगी। यहाँ यह स्पष्ट है कि डॉ. लोहिया का मत था कि आर्थिक रूप से सशक्त व्यक्ति ही पूर्वतः जागरूक होकर अपने राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग कर सकता है।

विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था डॉ. लोहिया के समाजवाद का प्रमुख आकर्षण है। यहाँ वे गाँधीवाद, लोकतन्त्र व राजनीतिक आर्थिक विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए। डॉ. लोहिया के समाजवादी राज्य के चार स्तम्भ हैं— गाँव, मण्डल, प्रदेश, केन्द्रीय सरकार।

डॉ. लोहिया का मत था कि उपर्युक्त चारों स्तम्भ व्यवहारिक लोकतन्त्र के रूप में आपस में मिलकर कार्य करेंगे।

डॉ. लोहिया का मत था समाजवादी समाज में राजनीतिक व्यवस्था विशुद्ध रूप से लोकतान्त्रिक व्यवस्था होनी चाहिए जहाँ प्रत्येक स्तर पर निर्वाचित प्रतिनिधि ही शासन चलाने के अधिकारी होंगे। डॉ. लोहिया का समाजवाद, समानता, लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण व अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित समाज होगा। इस हेतु डॉ. लोहिया एक आदर्श व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं जो कि निम्नवत है—

1. समाजवादी राज्य में आर्थिक, राजनीतिक व प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण होगा।
2. छोटे उद्योगों पर आधारित उद्योगीकरण को प्रोत्साहित किया जायेगा एवं घरेलू उद्योगों को विकसित व समृद्ध बनाया जायेगा।
3. डॉ. लोहिया का मत था कि समाजवादी व्यवस्था में पुलिस सदैव गाँव, शहर व जिले की पंचायतों व उसकी संस्थाओं के अधीन होंगी।
4. कृषि-उद्योगों व अन्य प्रकार की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया जायेगा जहाँ तक सम्भव होगा उनका प्रशासन व स्वामित्व गाँव, शहरों व जिलों की पंचायतों के पास होगा।
5. जिला मजिस्ट्रेटों के पद की समाप्ति भी की जायेगी तथा उसके कार्यों को जिले में स्थापित विभिन्न संस्थाओं को सौंप दिया जायेगा।

डॉ. लोहिया ने 20 वीं शताब्दी में विकसित हो रहे विश्व का विश्लेषण कर यह मत दिया कि इस समय 7 क्रांतियाँ एक ही समय में हो रही थी। ये 7 क्रांतियाँ थी—

1. स्त्री, पुरुष समानता के लिए क्रान्ति।
2. रंगभेद के विरुद्ध क्रान्ति।
3. उच्च वर्गों व पिछड़े वर्गों में विद्यमान असमानता के विरुद्ध क्रान्ति।
4. विदेशी शासन की दासता से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए क्रान्ति।
5. निजी पूँजी व पूँजीवाद के विरुद्ध क्रान्ति।
6. शस्त्र व हिंसा के विरुद्ध क्रान्ति।
7. लोकतन्त्रीय ढंगों के उल्लंघन के विरुद्ध क्रान्ति।

डॉ. लोहिया के समाजवादी विचारधारा का एक प्रमुख व महत्वपूर्ण सिद्धान्त चक्कर सिद्धान्त 'Wheel of History' है। यहाँ हम लोहिया को पाश्चात्य विचारक अरस्तू के समकक्ष पाते हैं। लोहिया का मत है कि इतिहास का विकास स्वयं एक ऐतिहासिक चक्कर के रूप में हुआ है। उन्होंने हीगल व मार्क्स द्वारा प्रस्तुत की गयी इतिहास की व्याख्याओं को अस्वीकार किया। डॉ. लोहिया ने अपने सिद्धान्त में यह मत दिया कि इतिहास की खोज वर्तमान में भी पूर्ण नहीं हो सकती है अपितु इतिहास की खोज अभी तक अधूरी है क्योंकि कई तथ्य ऐसे हैं जिनकी खोज अभी की जानी शेष है। अतः इस क्रम में इतिहास की व्याख्या का कोई निश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाना सम्भव नहीं था।

डॉ. लोहिया का मत है कि इतिहास सदैव एक चक्कर के रूप में चलता है और इसका विकास न तो एक समान होता है और न ही यह सदैव प्रत्यक्ष होता है। उनका मानना था कि

इतिहास का अध्ययन हमें यह बताता है कि समय-समय पर लोगों और उनकी सभ्यताओं ने उन्नति भी की है तथा उनमें जागरूकता भी आयी है। इसे उदहारण देकर लोहिया जी बताते हैं कि जिस प्रकार भारतीय इतिहास में गुप्तवंश को स्वर्णयुग की प्रकाष्टा भी प्राप्त हुयी तथा उसी गुप्त वंश का पतन भी हुआ। ठीक इसी प्रकार सभ्यताओं के विषय में भी यही सिद्धान्त प्रचलित है। लोहिया जी का मत है कि इतिहास का चक्कर एक निरन्तर चलने वाला चक्र है तथा इस ऐतिहासिक चक्कर में शूद्र और संगठित जातियों व कमजोर रूप से संगठित जातियों के मध्य संघर्ष होता रहा है। वर्ग व जाति में आन्तरिक संघर्ष भी इतिहास के विकास एक तत्व रहा है।

इस संघर्ष के अन्तर्गत वर्गों व जातियों में संघर्ष, सभ्यताओं के संघर्ष व उद्देश्यों के संघर्ष विद्यमान रहे हैं तथा इनके कारण भी ऐतिहासिक चक्र सदैव चलता है। इतिहास के इन तथ्यों के आधार पर विश्लेषण से ही हमें इतिहास के विकास के सिद्धान्त की प्रकृति का पता चलता है।

डॉ. लोहिया के समाजवाद की एक प्रमुख विशेषता विशेषतः एशियाई परिस्थितियों के अनुकूल नवीन विचारों को प्रस्तुत करना है। इसी कारण डॉ. लोहिया के समाजवाद को प्रायः एशियन समाजवाद भी कहा जाता है। एशिया की विशेषताओं व समस्याओं का विश्लेषण करने के पश्चात् डॉ. लोहिया ने यह मत प्रस्तुत किया कि यूरोपीय समाजवादियों द्वारा अपनाये जा रहे आर्थिक व राजनीतिक पुर्ननिर्माण के कार्यक्रम भारत जैसे देश के लिए उचित नहीं हो सकते। 26 मार्च 1952 को एशियन समाजवादी सम्मेलन के भाषण में डॉ. लोहिया ने कहा था कि एशिया, जिसे अभी अपनी आर्थिक समस्या पर नियन्त्रण पाना है के लिए यूरोपीय समाजवादी विचारधारा उपर्युक्त व लाभदायक नहीं हो सकती है।

डॉ. लोहिया का मत था कि एशियाई देश उपनिवेशवादी सत्ताओं से स्वाधीन हुए नव स्वतंत्र देश हैं जिनमें राष्ट्र निर्माण के साथ ही राज्य निर्माण की समस्या भी प्रमुख है। दूसरे, एशियाई देश अनेक सामाजिक, आर्थिक समस्याओं से पीड़ित है। इस संदर्भ में एशियाई देशों की प्रमुख समस्या थी उनकी भूख व गरीबी की समस्या। जिसका समाधान ढूँढना अत्यन्त आवश्यक है तथा बिना इस समस्या को हल किए एशियाई देशों में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को प्रारंभ नहीं किया जा सकता था।

इस संदर्भ में डा. लोहिया एशियाई देशों के लिए पूँजीवाद व साम्यवाद दोनों ही प्रणालियों को अनुपयुक्त मानते थे। उनका मत था कि दोनों ही विचारधाराओं में अन्तर केवल इस बात को लेकर है कि जहाँ पूँजीवादी विचारधारा निजी संपत्ति के सिद्धान्त पर चलती है। वहीं साम्यवादी विचारधारा सार्वजनिक सम्पत्ति के सिद्धान्त पर चलती है। उनका मत था कि बड़े-बड़े कारखानों व मशीनों को लगाकर एशियाई राष्ट्रों की गरीबी का समाधान नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार के उपाय एशियाई देशों में बेरोजगारी को बढ़ाने वाले होंगे। डा. लोहिया का मत था कि एशियाई राष्ट्रों का विकास कृषि के विकास के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इस हेतु एशियाई राष्ट्रों के किसानों को गहन कृषि व सहकारी कृषि पद्धतियों को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे शब्दों में कृषि विकास व ग्रामीण विकास के द्वारा ही भारत जैसे देशों में गरीबी व पिछड़ेपन की समस्या को दूर किया जा सकता है।

इस हेतु डॉ. लोहिया का मत था कि हमें एशियाई राष्ट्रों में समाजवादी सम्पत्ति की स्थापना करने हेतु प्रयास करने होंगे जिससे कि एशियाई लोगों को गरीबी से मुक्ति संभव हो सके। इस हेतु डॉ. लोहिया ने महात्मा गाँधी जी का समर्थन किया तथा उन्होंने गाँधीवादी ढंग से गाँवों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने का सिद्धान्त स्वीकार किया इस हेतु उन्होंने छोटे उद्योगों, कृषि विकास व घरेलू दास्तकारों को अधिक महत्व दिया।

डॉ. लोहिया ने अपने समाजवादी सिद्धान्त में इस तथ्य को परिकल्पित किया कि एशियाई राजनीति में विद्यमान कट्टरवादी, धार्मिक व राजनीतिक विचारों को राजनीति में मिलाये जाने का विरोध किया। उनका मत था कि ऐसा करने से समाज में साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता व विभाजन जैसे समस्याओं की उत्पत्ति होती है तथा लोकतान्त्रिक परम्पराओं व संस्थाओं के विकास में हानि होती है। डॉ. लोहिया ने एशियाई समाजों में विकसित नवीन नौकरशाही व टैक्नोक्रेट वर्ग की उत्पत्ति का भी विरोध किया। इस प्रकार डॉ. लोहिया एशियाई देशों में समाजवाद की स्थापना हेतु विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था व समाजवादी लोकतंत्र को आवश्यक मानते हैं।

उपयुक्त से स्पष्ट है कि डॉ. लोहिया भारत के एक प्रमुख समाजवादी राजनीतिक विश्लेषक व चिंतक थे। उन्होंने एशियाई राष्ट्रों की विशेष परिस्थितियों का गहन अध्ययन कर इन देशों के लिए एक नवीन प्रकार के समाजवाद की स्थापना का प्रयास किया। जिससे कि इन देशों में सामाजिक समरसता व सामाजिक समानता के साथ ही आर्थिक समानता की भावना का भी विकास हो सके।

सन्दर्भ :

1. जौहरी, जगदीश चन्द, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, नई दिल्ली, 2000 पृ. 505
2. गाबा, ओमप्रकाश, भारतीय राजनीतिक विचारक, नोएडा, 2009 पृ. 175
3. घई, यू.आर., प्रमुख भारतीय राजनीतिक चिंतक, जालंधर, 2010 पृ. 249
4. वही, पृ. 251
5. वही, पृ. 252
6. लोहिया, राममनोहर, मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद, 1963, पृ. 427
7. तातेड़, सोहन राज, एवं सिंह विद्यासागर, आधुनिक भारतीय चिंतक (भाग-2), जयपुर 2012 पृ. -217-18
8. कुमार, पवन, भारतीय राजनीतिक विचारक, नई दिल्ली (भारत) 2012 पृ. 138
9. शर्मा, सी.पी., राजनीतिक विचारधाराएँ, भोपाल, 2005 पृ. 436
10. गाबा, ओमप्रकाश, भारतीय राजनीति विचारक नोएडा 2009 पृ. 176
11. एन.सी. मेहरोत्रा, लोहिया ए स्टडी (1978 ई0डी0), पृ. 56
12. लोहिया राममनोहर, व्हील ऑफ हिस्ट्री, हैदराबाद, 1963, पृ. 51
13. त्यागी, पी.के., भारतीय राजनीतिक विचारक, नई दिल्ली 2006 पृ. 297
14. उ.प्र. समाज विज्ञान शोध-पत्रिका (UPJSSR) Vol-1, No-1 बलिया, 2007-08
15. दैनिक जागरण न्यूज पेपर, 24 मार्च 2014 इलाहाबाद

विषय पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तन

डॉ. गोविन्द राम*

पाठ्यक्रम को आंग्ल भाषा में 'करीकुलम' (Curriculum) कहते हैं। 'करीकुलम' (Curriculum) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के क्यूररे (Currere) शब्द से हुई है और क्यूररे (Currere) का अर्थ है दौड़ना। इस प्रकार 'करीकुलम' (Curriculum) का अर्थ है— दौड़ का मैदान शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्यक्रम बालक के लिए एक दौड़ का मैदान भी है। जिस प्रकार एक दौड़ने वाला दौड़ के मैदान को पार करके दौड़ जीत सकता है, उसी प्रकार बालक भी पाठ्यक्रम रूपी दौड़ के मैदान को पार करके इच्छारूपी दौड़ जीत सकता है। अतः शाब्दिक अर्थ के अनुसार पाठ्यक्रम वह मार्ग है, जिस पर चलते हुए बालक शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है। व्यापक अर्थ में पाठ्यक्रम का तात्पर्य उन सही अनुभव से हैं, जिन्हें बालक अपनी रुचियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न क्रियाओं द्वारा कक्षा के अन्दर अथवा कक्षा के बाहर हर समय प्राप्त करता है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) ने पाठ्यक्रम के व्यापक अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि— “पाठ्यक्रम का अर्थ केवल उन सैद्धान्तिक विषयों से नहीं है जो स्कूल में परम्परागत रूप से पढ़ाये जाते हैं। अपितु इसमें अनुभवों की वह सम्पूर्णता भी सम्मिलित होती है, जिनको बालक स्कूल कक्षा, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, वर्कशॉप तथा खेल के मैदान एवं शिक्षकों और छात्रों के अनगिनत अनौपचारिक सम्पर्कों से प्राप्त करता है। इस प्रकार स्कूल का सम्पूर्ण जीवन पाठ्यक्रम बन जाता है, जो छात्रों के सभी पक्षों को प्रभावित करता है तथा उनके विकास में सहायता दे सकता है”।

मुनरो के अनुसार — “पाठ्यक्रम में वे सब क्रियाएं सम्मिलित हैं, जिनका हम शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उपयोग करते हैं”।

फ्रोबिल के अनुसार — “पाठ्यक्रम को मानव जाति के सम्पूर्ण ज्ञान तथा अनुभवों का सार समझना चाहिए”।

कनिंघम के अनुसार — “कलाकार (शिक्षक) के हाथ में यह पाठ्यक्रम एक साधन है, जिसमें वह पदार्थ (शिक्षार्थी) को अपने आदर्श उद्देश्य के अनुसार अपने स्टूडियो (स्कूल) में ढाल सके”।

आज पाठ्यक्रम में इतनी निरस्ता आ गई है कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह अध्यापक हो या फिर बालक हो, पाठ्यक्रम को बोझिल समझता है। कारण यह है कि जो आज से 10 या 15 वर्ष पहले की पाठ्यवस्तु थी, उसमें भी वही पाठ्यक्रम समाहित था, जो आज वर्तमान समय में है। वर्तमान समय में पाठ्यक्रम बालकों की रुचियों एवं आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है।

ऐसा क्या कारण है कि पाठ्यक्रम में निरस्ता आ रही है या बालकों की इच्छाओं के अनुसार पाठ्यक्रम को सही रूप से नहीं पढ़ाया जाता है। क्या शिक्षण विधियों का अभाव होने से या फिर अध्यापक द्वारा विषयवस्तु को पाठ्यक्रम के अनुसार बताने में असमर्थता के आधार

* असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून (उत्तराखण्ड)

पर ऐसा देखा जा रहा है कि पाठ्यक्रम में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ रही है। क्या पाठ्यक्रम बालकों की इच्छाओं व रुचियों के अनुसार नहीं है या जबरदस्ती उन पर बोझ लाद दिया गया है तथा इसको मध्यनजर रखते हुए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के पाठ्यक्रम के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है कि –

उद्देश्य –

1. पाठ्यक्रम को बालक के सर्वांगीण विकास हेतु प्रेरणा प्रदान करनी चाहिए।
2. पाठ्यक्रम को मानव जाति के अनुभवों को सम्मिलित रूप से स्पष्ट करके संस्कृति तथा सभ्यता का हस्तान्तरण एवं विकास करना चाहिए।
3. पाठ्यक्रम को बालक में मित्रता, ईमानदारी, निष्कपटता, सहयोग, सहनशीलता, सहानुभूति एवं अनुशासन आदि गुणों को विकसित करके नैतिक चरित्र का निर्माण करना चाहिए।
4. पाठ्यक्रम को बालक की चिन्तन, मनन, तर्क तथा विवेक एवं निर्णय आदि सभी मानसिक शक्तियों का विकास करना चाहिए।
5. पाठ्यक्रम को बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्धित सभी आवश्यकताओं, मनोवृत्तियों तथा क्षमताओं एवं योग्यताओं के अनुसार सृजनात्मक तथा रचनात्मक शक्तियों का विकास करना चाहिए।
6. पाठ्यक्रम को सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों एवं कलाकारों तथा धर्मों के आवश्यक ज्ञान द्वारा ऐसे गतिशील तथा लचीले मस्तिष्क का निर्माण करना चाहिए, जो प्रत्येक परिस्थिति में साधन पूर्ण तथा साहस बनकर मूल्यों का निर्माण कर सके।
7. पाठ्यक्रम को ज्ञान तथा खोज की सीमाओं को बढ़ाने के लिए अन्वेषकों का सृजन करना चाहिए।
8. पाठ्यक्रम को विषयों तथा क्रियाओं के बीच की खाई को पारकर बालक के सामने ऐसी क्रियाओं को प्रस्तुत करना चाहिए जो उसके वर्तमान तथा भावी जीवन के लिए उपयोगी हो।
9. पाठ्यक्रम को बालक में जनतन्त्रीय भावना का विकास करना चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि आज पाठ्यक्रम में नीरसता आने का मुख्य कारण यह है कि न तो बालक ही अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह कर रहे हैं और न ही अध्यापक, क्योंकि विद्यालयों में अध्यापक विषय वस्तु से सम्बन्धित विधि-प्रविधियों के माध्यम से शिक्षण कार्य को नहीं करते हैं, जिससे पाठ्यक्रम को आगे अच्छी तरह से बढ़ाया जा सके। इसलिए प्रचलित पाठ्यक्रम बालक के निर्माण में सहायक सिद्ध होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जबकि पाठ्यक्रम के निर्माण के सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से ध्यान में रखकर कार्य किया जायेगा और इन निर्माण सिद्धान्तों पर इस बात का विशेष ध्यान रखा जाये कि –

सिद्धान्त :-

1. पाठ्यक्रम बाल केन्द्रित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में पाठ्यक्रम का निर्माण बालक की रुचियों, आवश्यकताओं, मनोवृत्तियों, क्षमताओं, योग्यताओं तथा वृद्धि एवं आयु आदि के अनुसार विशेष ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए।

2. पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय उन विषयों पर ध्यान देना चाहिए, जिनका बालक के जीवन से सीधा सम्बन्ध हो।
3. पाठ्यक्रम में उन क्रियाओं तथा विषयों को स्थान मिलना चाहिए जो बालक की रचनात्मक तथा सृजनात्मक शक्तियों का विकास कर सके।
4. पाठ्यक्रम में उन क्रियाओं, वस्तुओं तथा विषयों को सम्मिलित किया जाना चाहिए, जिनके द्वारा बालक को अपनी संस्कृति तथा सभ्यता का ज्ञान हो जाये।
5. पाठ्यक्रम में उन विषयों को स्थान मिलना चाहिए, जो बालक के वर्तमान तथा भावी जीवन के लिए उपयोगी हो।
6. प्रत्येक बालक की रुचियाँ, आवश्यकताएँ, योग्यताएँ, क्षमताएँ तथा मनोवृत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं। इस विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम में विविधता तथा लचीलापन होना चाहिए।
7. पाठ्यक्रम को अलग-अलग सम्बन्धहीन टुकड़ों में विभाजित करने से उसका महत्व एवं प्रभाव कम हो जाता है। इसके विपरीत पाठ्यक्रम विषयों में सह-सम्बन्ध स्थापित करने से बालक ज्ञान के समग्ररूप से परिचित हो जाता है। इसलिए पाठ्यक्रम में सह-सम्बन्ध का होना बहुत जरूरी है।
8. पाठ्यक्रम में नैतिक मूल्यों की शिक्षा को भी पूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

भारतीय शिक्षा के प्रचलित माध्यमिक पाठ्यक्रम का निर्माण ब्रिटिश कालीन शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किया गया है। परिणाम स्वरूप इसके अन्तर्गत उन सभी विचारों, क्रियाओं तथा अनुभवों एवं विषयों का अभाव है जो स्वतन्त्र भारत के बालकों को उत्तम नागरिक बना सके। यही कारण है कि इस पाठ्यक्रम की शिक्षक तथा बालक आये दिन निन्दा करते रहते हैं। माध्यमिक शिक्षा सेवा आयोग के अनुसार हमारे प्रचलित पाठ्यक्रम में निम्न दोष बताये गये हैं —

दोष :

1. **संकुचित आधार** — माध्यमिक शिक्षा के प्रचलित पाठ्यक्रम का निर्माण बालक की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं तथा क्षमताओं एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ण अवहेलना करते हुए केवल विश्वविद्यालय की शिक्षा को दृष्टि में रखते हुए किया गया है। अतः इसका आधार अत्यन्त संकुचित है।
2. **पुस्तकीय एवं सैद्धान्तिक ज्ञान पर बल** — चूंकि महाविद्यालय के प्रचलित पाठ्यक्रम पर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम का प्रभाव है। इसलिए यह भी पुस्तकीय एवं सैद्धान्तिक ज्ञान पर बल देता है। ऐसे पुस्तकीय एवं सैद्धान्तिक ज्ञान को प्राप्त करके बालक व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल हो जाते हैं।
3. **विषयों से अधिक बोझ** — प्रचलित पाठ्यक्रम का निर्माण विषय विशेषज्ञों की दृष्टि से किया गया है। दूसरे शब्दों में इसके अन्तर्गत आवश्यकता से अधिक विषयों को स्थान दिया गया है। चाहे वे बालक के लिए उपयोगी हो अथवा नहीं। विषयों के इस भारी बोझ से बालक हर समय दबे रहते हैं।
4. **जीवन से असम्बन्धित** — माध्यमिक शिक्षा आयोग के ही शब्दों में माध्यमिक शिक्षा

की भांति माध्यमिक पाठ्यक्रम का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बालकों को जीवन के लिए तैयार करने में असफल रहा है, यह यहाँ से बाहर की दुनिया का उन्हें कोई अभ्यास नहीं कराता, जिसमें वे शीघ्र ही प्रवेश करने वाले हैं।

5. **व्यक्तिगत भेदों में कोई स्थान नहीं** — किशोरावस्था में व्यक्तिगत विभिन्नताएं स्पष्ट हो जाती हैं पर प्रचलित पाठ्यक्रम इन व्यक्ति विभिन्नताओं की अवहेलना करते हुए प्रत्येक बालक के लिए एक ही विषयवस्तु प्रस्तुत करता है। यह अमनोवैज्ञानिक है।
6. **परीक्षा केन्द्रित** — प्रचलित पाठ्यक्रम का एक मात्र उद्देश्य बालक को परीक्षा के लिए तैयार करना है। अतः सभी शिक्षक परीक्षा में आने वाले सम्भावित विषय सामग्री के बताने में तथा बालक उसके रटने में हर समय जुटे रहते हैं। इससे बालकों को किसी विषय का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता।
7. **तकनीकी तथा व्यावसायिक विषयों की कमी** — प्रचलित पाठ्यक्रम में तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। इसके न तो हमारे बालकों में श्रम के प्रति महत्व की भावना जागृत हो रही है और नहीं देश की वास्तविक औद्योगिक उन्नति हो पा रही है।
8. **नैतिक तथा यौन शिक्षा का अभाव** — प्रचलित पाठ्यक्रम में नैतिक तथा यौन शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। परिणामस्वरूप बालकों में यौन अपराध की संख्या तथा चरित्र हीनता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।
9. **जनतन्त्र के लिए अयोग्य** — प्रचलित पाठ्यक्रम में जनतन्त्रीय आदर्शों का समावेश नहीं है। अतः इसके द्वारा बालकों में जनतन्त्रीय भावना का विकास करना असम्भव है। इसलिए प्रचलित पाठ्यक्रम हमारे बालकों के लिए व्यर्थ है।

अतः पाठ्यक्रम को देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार पाठ्यक्रममें परिवर्तन करना जरूरी है, क्योंकि तभी इससे बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होगा। इसको ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम में निम्न सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं।

सुझाव :-

1. सभी स्तर पर पाठ्यक्रम बाल केन्द्रित होना चाहिए।
2. पाठ्यक्रम को बालकों की विभिन्न रुचियों, आवश्यकताओं तथा प्रवृत्तियों का विकास करना चाहिए।
3. पाठ्यक्रम लचीला होना चाहिए।
4. पाठ्यक्रम को बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना चाहिए।
5. पाठ्यक्रम को अवकाश के सदुपयोग की शिक्षा देनी चाहिए।
6. पाठ्यक्रम को सामुदायिक जीवन समायोजन करने में सहायता करनी चाहिए।
7. पाठ्यक्रम को बालकों को जीविकोपार्जन की समस्या को हल करनी चाहिए।
8. पाठ्यक्रम के विषय अलग-अलग न होकर एक दूसरे से सम्बन्धित होने चाहिए।
9. पाठ्यक्रम के अन्तर्गत कुछ विषय अनिवार्य होने चाहिए तथा बहुत से विषय ऐसे होने चाहिए जिनमें से प्रत्येक बालक अपनी-अपनी व्यक्तिगत रुचियों के अनुसार कुछ विषय चुन सकें।
10. पाठ्यक्रम में नैतिक मूल्यों की शिक्षा को भी पूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

इस परिप्रेक्ष्य में कोठारी आयोग में भी माध्यमिक शिक्षा आयोग की भांति प्रचलित पाठ्यक्रम के अनेकों दोशों को दृष्टि में रखते हुए लोअर प्राइमरी से लेकर

हायर सेकेण्डरी स्तर की कक्षाओं के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए —

1. **लोअर प्राइमरी स्तर** — आयोग ने सुझाव दिया है कि लोअर प्राइमरी अर्थात् पहली से चौथी कक्षा तक के पाठ्यक्रम में भाषा, गणित, कार्य अनुभव, सृजनात्मक क्रियाएं, स्वास्थ्य शिक्षा तथा समाज सेवा आदि विषयों को स्थान मिलना चाहिए।
2. **हायर प्राइमरी स्तर** — आयोग ने सुझाव दिया है कि हायर प्राइमरी अर्थात् पांचवीं से सातवीं कक्षा के पाठ्यक्रम में नैतिक तथा अध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा, दो भाषाएं विज्ञान, गणित, समाजसेवा, सामाजिक-अध्ययन कला तथा शारीरिक शिक्षा आदि विषयों को सम्मिलित किया जाये।
3. **लोअर सेकेण्डरी स्तर** — आयोग ने सुझाव दिया कि लोअर सेकेण्डरी अर्थात् आठवीं से दसवीं कक्षा तक के पाठ्यक्रम में तीन भाषाएं विज्ञान, गणित, भूगोल, नागरिक शास्त्र, समाजसेवा कार्य-अनुभव, शारीरिक शिक्षा तथा नैतिक एवं अध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिए।
4. **हायर सेकेण्डरी स्तर** — आयोग ने सुझाव दिया कि इस स्तर के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय सम्मिलित किए जाने चाहिए —
 - कोई दो भाषाएं
 - कोई तीन भाषाएं एक अतिरिक्त भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित, जीव विज्ञान, गृह विज्ञान तथा भूगर्भ शास्त्र
 - कार्य-अनुभव एवं समाजसेवा
 - शारीरिक सेवा
 - कला अथवा चित्रकला
 - भौतिक तथा अध्यात्मिक मूल्यों की क्रिया

प्रचलित पाठ्यक्रमों में दोषों को दूर करने के लिए आयोग द्वारा दिए गए सुझावों पर अभी भी पूर्ण रूप से विचारमंथन नहीं हो रहा है। अधिकांश विद्यालयों में नाम मात्र को ही पाठ्यक्रम सम्बन्धी जानकारी दी जाती है। इस स्तर पर पाठ्यक्रम को पूर्ण रूप से लागू करने के लिए आवश्यक है कि इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है। इसलिए आज हमारे सरकारी विद्यालयों की तुलना में प्राइवेट विद्यालय इसलिए चरम सीमा पर हैं कि वहाँ आये दिन नये-नये आयाम प्रस्तुत किए जाते हैं।

अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य को मध्य नज़र रखते हुए पाठ्यक्रम में परिवर्तन की अति आवश्यकता है और यह आज के बदलते हुए समाज के अनुकूल होना भी बहुत ही जरूरी है तथा तभी हमारी भावी पीढ़ी को कुछ आगे बढ़ने का सही रास्ता मिल पायेगा, जब पाठ्यक्रम में बदलाव होगा।

सन्दर्भ—ग्रन्थ

1. एन. आर. स्वरूप सक्सेना, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ।
2. डॉ. गुरसरणदास त्यागी, डॉ. मृदुला रावल, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा-2।
3. रमन बिहारी लाल, रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ।
4. जी.एस.डी. त्यागी एवम् पी.डी. पाठक, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा।

चित्रों के माध्यम से समूहीकरण व पर्यटन का प्रभाव : चित्रकार बिकास भट्टाचार्यजी के विशेष सन्दर्भ में

रुचिका श्रीवास्तव*

कला जगत में बिकास भट्टाचार्य जी का प्रवेश 1965 में कोलकाता के नगर दृश्य (सिटी स्केप) से हुआ था जिस सीरीज की कृतियों ने नगर के कला जगत में भूचाल ला दिया। इन कृतियों में कोलकाता के निवासियों ने उन दृश्यों को देखा जिससे वे अनजान थे। उनका प्रिय नगर कोलकाता मर रहा था। उसके भव्य रूप विकृत हो रहे थे। भूख तंगी और दरिद्रता से पटी उसकी गलियाँ कोलकाता की भव्यता को मुँह चिढ़ा रही थी। इस सीरीज से बिकास को पहचान मिली और कोलकाता को ही नहीं, भारतीय कला जगत को ऐसा यथार्थवादी कलाकार मिला जो उपेक्षित और अदृश्य जीवन को भी प्रत्यक्ष कर सकता था।¹

कोलकाता के अधिकांश कलाकार यथार्थ और आकृतिमूलक कलाकृतियों का सृजन करते हैं। यही बात बिकास की कलाकृतियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। व्यक्ति – चित्रण में विकास में अपनी दक्षता सिद्ध की है। उनकी रुचि फोटोग्राफिक यथार्थवाद में भी रही है। अति यथार्थवादी धारा एवं समकालीन भारतीय कला के अद्वितीय एवं महत्वपूर्ण चित्रकार हैं। वे अति यथार्थवादी दुनिया को अपनी चित्राकृतियों के माध्यम से बेहद प्रभावशाली ढंग से प्रदर्शित करते हैं। वे एक साधारण व्यक्ति चित्र को अनोखा बना देते हैं। उनकी चित्राकृतियाँ दर्शक के मन में बेचैनी उत्पन्न करती हैं। उनकी कला में बुरी खबर के साथ ही तकनीकी कौशल की अधिकता भी दिखाई देती है। फोटोग्राफी, चलचित्र, स्वप्न तथा फन्तासी के साथ ही उनकी कला में बचपन की दुःखद स्मृतियों का भी समन्वय हुआ है। उनकी गुड़िया नामक चित्र श्रृंखला में सिनेमा के समान नाटकीय कल्पनाओं का प्रयोग अपनी कलाकृतियों में पूर्ण रूप से किया है। उनकी यथार्थवादी कलाकृतियों में तीखा व्यंग भी छिपा होता है।²

बिकास ने अपनी डायरी में स्थान पर बंगाली भाषा में अपना एक स्मरण लिखा है। जिसमें उन्होंने बताया है कि मैं कोलकाता नगर का निवासी हूँ कभी भी कोलकाता की सीमा को लाँघ नहीं सका। चित्रकला की दुनियाँ के प्राचीन— पंथी लोगों का मैं पहले बहुत उपहास करता था। वे अजन्ता की गुफा में कैद हैं, कहता था। एक बार मैं दो दिन के लिये काणार्क घूमने गया। रात्रि में उस निर्जन रहस्यमय परिवेश में लगा कि कोणार्क की सभी पाषाण मूर्तियाँ सजीव हो गयी हैं। लग रहा था कि मैं इन मूर्तियों की अंग— भगीमा देख रहा हूँ। उल्लास समझ पा रहा हूँ। यह सभी अतीत था, परन्तु यथार्थ जैसे ही लग रहा था।



चित्र सं. 1

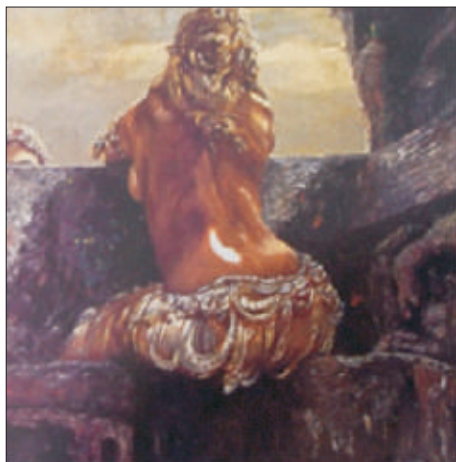
* Research Scholar, Department of Drawing & Painting, H.N.B. Garhwal University, Srinagar Uttarakhand

बाद में एक दिन मैं हरिसन रोड से बस में जा रहा था, उस समय यूनिवर्सिटी की छुट्टी हुयी थी कई लड़कियां बस में चढ़ रही थी उनमें से एक लड़की की अंग भंगीमा ने मुझे कोणार्क की उन मूर्तियों की याद दिला दी। इससे ज्ञात होता है कि वह रूपाकार मेरी स्मृति में संचित हो गया था।”³

जिनमें से कुछ चित्र इस प्रकार है— चित्र सं. 1 में बिकास ने अंधेरे से बाहर की तरफ निकलती युवती को दिखाया है, इस युवती की भाव भंगीमा पत्थरों पर उकेरी गयी आकृति की तरह है जिससे यह प्रतीत होता है कि बिकास की स्मृतियों में कोणार्क भ्रमण के दौरान देखी गयी आकृतियाँ समायी हुयी थी।

इसी क्रम में चित्रित चित्र सं. 2 व 3 है, जिनमें की पत्थरों पर बनी आकृतियों को उनके चित्रों में देखी जा सकती है। चित्र सं. 2 में बनी युवती की केश सज्जा व आभूषणों की आकृति पाषाणों पर बनी आकृतियों की भांती सजाने के जैसी प्रतीत होती है। यह युवती दीवार की ओर मुँह कर के बैठी हुई है, युवती के केशों में जूड़ा बनाया गया है, व गहनों को घूमावदार आकृति में सुन्दर तरीके से बनाया गया है।

इसी प्रकार चित्र सं. 3 में उन्होंने एक चारपाई पर लेटी हुई आकृति बनाई है जिसके करीब ही तीन आकृतियाँ बैठी हुई है, जिनमें दो पुरुष आकृतियाँ और एक स्त्री आकृति है, लेटी हुई आकृति पाषाण पत्थर की है और इस आकृति ने सफेद चादर ओढ़ी हुई है और साथ में भगवां चोला अपने ऊपर लपेटा हुआ है।



चित्र सं. 2



चित्र सं. 3

अगर बात समूहीकरण की करें तो चित्रकार बिकास भट्टाचार्य जी ने अपने चित्रों में नारी को चुना है उन्होंने स्त्री को कई तरह के कार्यों में भागीदार होते दिखाया है जैसे की चित्र सं. 4, 5, 6 व 7 में देखा जा सकता है।

“1980 में कोलकाता के चित्रकार बिकास भट्टाचार्य जी ने चित्रकला में चल रही चित्रण प्रथा को तोड़ते हुये नई प्रथा को अपनाया। जिसके लिये उन्होंने कोलकाता में रहने

वाले नागरिकों के दैनिक जीवन के दृश्यों को अपने चित्राकृतियों के विषयों के लिये चुना हैं। इसके की लिये उनकी कृति लेडी विद गैस सिलेण्डर प्रसिद्ध है।⁴

आफिस का दृश्य है, और इस आफिस में ये स्त्रीयां अपनी बात मनवाने के लिये आयी है इन स्त्रीयों में एक महिला इन सब की मुखियाँ प्रतीत होती है। स्त्रीयों के सामने मेज बनायी गयी है और इस मेज पर कुछ फाइलें पड़ी हुयी है। इस तरह से इन महिलाओं का समूह एक जागरूक समाज को प्रस्तुत करता है।



चित्र सं. 4 लेडी विद गैस सिलेण्डर

चित्र सं. 6 एक महिला को किसी समारोह का उद्घाटन करते हुए चित्रित किया गया है, यह महिला आधुनिक भारतीय समाज को प्रस्तुत कर रही है ठीक इसी प्रकार चित्र सं. 7 में एक बंगाली महिला को शहर के सड़क पर हवाई चप्पल पहने बनाया है तथा उस महिला के हाथों में सब्जियों व सामान से भरा हुआ थैला है, यह चित्र आज के व्यस्त जीवन को प्रस्तुत करता है, इस महिला को बड़े ही साधारण तरीके से चित्रित किया गया है। यह तीनों चित्र आज के समाज में रहती महिला समाज को प्रस्तुत करता है।



चित्र सं. 2



चित्र सं. 2



चित्र सं. 2

अतः इस प्रकार से हम यह कह सकते है कि एक चित्रकार के कला सृजन के लिये भिन्न-भिन्न स्थानों का भ्रमण करने से उसकी कलाकृति में और भी ज्यादा प्रभाव व विविधता उत्पन्न हो सकती है तथा किसी भी वर्ग को चित्रकार अपनी कृतियों में विशेष स्थान दे सकता है।

पाद टिप्पणी

1. जोशी ज्योतिष आधुनिक भारतीय कला, यश पब्लिकेशनस, x/909, चांद मौहल्ला, गांधी नगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ.सं.— 283
2. डॉ. राठौर, मदन सिंह आधुनिक भारतीय चित्रकला में अतियथार्थवाद, शर्मा पब्लिशिंग हाउस, 3374, चांदपोल, जयपुर, प्रथम संस्करण 2001, पृ. सं.— 59
3. Mukhopadhyay Amit, Bikash Bhattacharjee 1940-2006, ece Emami Chisel Art, Kolkata, published in 2009, page no 87-89
4. <http://www.hawthornehotelblog.com/2013/01/upcoming-new-exhibit-at-pem.html>
5. <http://www.google.com/image/paintingsofbikashbhattacharjee>

भारतीय कला में प्रेम की अभिव्यक्ति

संजीव कुमार*

भारतीय कला में प्रेम सम्बन्धी चिन्हों को तीन भागों में बांटा गया है। (1) Aniconi. (बिना आदमी व जानवर के प्रदर्शन किया हो) (2) Anthropomorphic. (मानवरूपी) (3) Theriomorphic (चतुष्पदरूपी आकार)।¹¹¹

प्रागैतिहासिक काल में हमें स्त्री-पुरुष के चिन्हात्मक रेखाचित्र मिलते हैं। गुफाओं व उनके रहने की जगहों पर मिले हैं। जिनमें काम चिन्ह भी काफी मात्रा में उपलब्ध है। जिनका वर्णन हम पुरातत्त्व स्रोत में कर चुके हैं। Aniconic Symbols प्रागैतिहासिक कला में हमें इस प्रकार के चिन्ह मिलते हैं, जिसमें सबसे पहला है “लिंग”।

3.1.1 लिंगम् 121

यह पुरुष का प्रजनन अंग है, जो कि हमें Aniconic चिन्ह के रूप में आकर्षित करता है। लिंगम् के हमें बहुत सारे प्रकार मिलते हैं, (चित्र संख्या-26) जिनके उदाहरण चम्पारन, बिहार, चुनार, मिर्जापुर आदि स्थानों पर प्राप्त है। प्राचीन समय में लिंगम् को “ऐसर” कहा जाता था, जो कि ऊपर की तरफ शक्तिशाली व खोलने वाला हो। जैसे खम्बा, टावर, शिखर आदि। यह आकार लिंगम् की तरह भारत, मिश्र, रोम व आयरलैण्ड आदि स्थानों पर बनाए गए हैं। लिंगम् (चिन्ह) प्राचीन मिस्र के मंदिरों में पूजा की वस्तु के रूप में दिखाया है। रोम में घण्टों व बाजूबंद को भी पुरुष के प्रजनन अंग के रूप में दर्शाया है। लिंगम् को दो कांटों वाली लकड़ी के रूप में दिखाया है। इसमें खड़ी लकड़ी लिंग के लिए और लेटी लकड़ी अण्डकोष का चिन्ह है। क्रास चिन्ह में भी इसे इसी रूप में दर्शाया है। इसमें सीधी खड़ी बीच की लकड़ी लिंगम् को दर्शाती है, तथा पड़ी लकड़ी इस पुरुष प्रजनन अंग को विभिन्न प्रकार से कला में प्रयोग किया गया है, इसमें क्रास चिन्ह सबसे ज्यादा प्रजनन और सृजन के रूप में प्रदर्शित है, जब तक कि इसको गिरजा-घरों में बचाव या निस्तारया मुक्ति के रूप में नहीं अपनाया गया था। लिंगम पवित्र रूप में प्राचीन भारतीय समाज में शिव आराधना का सूचक है, जिसका उदाहरण पंचमुखी शिवलिंग जो भीता (IIInd C.BC) से प्राप्त है। इसका एक अन्य प्रमुख उदाहरण सांप को खम्बे के चारों तरफ लिपटा हुआ दिखाया है, जिसमें खम्बा पवित्र लिंग का चिन्ह है, इसमें सांप कामुक्ता के जोश का प्रतीक है, यही कारण है, कि सांप को कामेच्छा के रूप में दिखाया है। (चित्र संख्या-1)



चित्र सं. 1

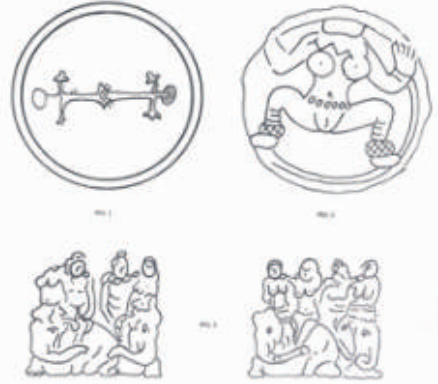
1. G.V.B. Reddy, 1986, Erotic Element in Central Indian Rock-Art. (trans). Paper read in 47 IHC, Srinagar
2. V.S. Wakankar, 1978, The Dawn of India Art (trans). Pg.9

* प्रवक्ता, राजकीय कला महाविद्यालय, चण्डीगढ़

3.1.2 योनि

भारतीय कला में योनि को लिंगम की तरह स्त्री के प्रजनन अंग के रूप में दर्शाया है, एक कलाकार स्त्री के अंगों को बहुत आकर्षक रूप में दिखा सकता है, जैसे— मोटी आखें सुन्दर होंठ चौड़ी छाती भारी नितम्ब आदि किन्तु ये सभी अंग योनि की तरह पूजनीय नहीं है। योनी भी लिंगम् की तरह पूजनीय मानी गई है।¹

131



चित्र सं. 2

200 B.C. Cent. से लिंगम व योनि जो स्त्री पुरुष के प्रजनन अंग है, इनकी पूजा भारतीय समाज में होती आ रही है, कुछ वैदिक श्लोकों में उल्का त्रिकोण भी योनि का प्रतीक है, भरदनायिका उपनिषद में साफ तौर पर वेदी को स्त्री के प्रजनन अंग के रूप में बताया है, भारतीय कला में स्त्री के बहुत सारे प्रतीकात्मक रूप दिखाए हैं, जैसे — स्त्री के स्तन का पूजा के रूप में बहुत कम प्रयोग किया गया है, प्राचीन भारतीय वास्तुकला में खिड़की, आले आदि को योनी आकार में दर्शाया है, (चित्र संख्या-2) गुफा का प्रवेश द्वार गुम्बद्ध और आर्च ये सभी स्त्री अंगों को दर्शाते हैं, ये सभी स्त्री चिन्ह सिर्फ भारत ही नहीं बल्कि समस्त संसार में देखने को मिलते हैं। कला में योनी प्रतीक बहुत सारे रूपों में देखने को मिलते हैं, जैसे गोले के बीच में बिन्दु दो बिन्दुओं वाला अण्डवृत्त जिसके उदाहरण हमें 3500 वर्ष पहले योनि को मां के गर्भ के द्वार के रूप में स्वीकार किया गया है। आन्ध्रप्रदेश में जब भक्त योनि आकार के छोटे दरवाजे में से निकलकर ही पूजा करने जाते थे जो कि पुनर्जन्म का प्रतीक है, जिसको वहां की भाषा में ईरुकूरोलो कहते हैं।

3.1.3 योनि एवं लिंगम

लिंगम् एवं योनि स्त्री-पुरुष के प्रजनन अंग है, जो कि पुरुष व प्रकृति और प्रजनन और उपाय के प्रतीक है, भारत में शिव लिंग की पूजा एक संघ के की जाती हैं। भारतीय समाज में योनि में लिंगम (चित्र संख्या-3) एक पवित्र वस्तु के रूप में स्वीकारा गया है।² प्राचीन युग में छः दिशाओं वाला तारा जो कि स्त्री और पुरुष के अन्त सम्बन्ध को दर्शाता है, जिस प्रकार वास्तविक संसार में स्त्री-पुरुष की रति क्रिया में लीन आकृति भी षट भुजाकार तारे



चित्र सं. 3

3. D. H. Gordon, 1978, The Prehistoric background of Indian Culture.(Trans) Pg.114

4. D. H. Gordon, op.cit.(trans). Pg 129

की तरह होती है। 'इसी प्रकार मंदिर का घण्टा भी प्रेम युगल का प्रतीक है, इसमें घन्टे के ऊपर वाला बाहरी भाग योनि का प्रतीक हैं तथा उसके अन्दर की छड़ लिङ्ग का प्रतीक हैं, यही कारण है, कि भक्तगण मंदिर के गर्भ गृह में प्रवेश से पहले घण्टे को बजाते हैं, जोकि पुर्नजन्म का प्रतीक है। इसी प्रकार रोमन घन्टे और रोमन Amulets बाजू बंद इसी के उदाहरण हैं, किसी भी मंदिर में लिङ्ग की पूजा तब तक नहीं हो सकती जब तक की वहां पर घण्टा न हो वास्तव में प्रजनन अंगों पर उंगली सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है, जो कि प्राकृतिक हैं, और किसी भी प्रेम सम्बन्धी क्रिया से अलग है।¹⁶⁷¹

3.2 ईश्वर को आदमी के आकार का दिखाना

इस प्रकार के प्रतीक ऊपर वर्णित प्रतीकों की अपेक्षा कम मिलते हैं, ग्रीक व रोम काल में शरीर को प्रदर्शित करना ठीक नहीं समझा गया ईसा काल से पहले तक प्राचीन रोमन काल में स्त्री के नितम्बों को श्रद्धा व भक्ति के रूप में देखा जाता था। प्राचीन रोमन शिलालेखों में गुप्त नितम्ब पूजा के बारे में बताया गया है। Puellam“Invitare Ad Pygisiaca Sacra” इसका अर्थ है, एक लड़की जो कि संस्कारों के तहत अपने नितम्बों को दिखाती है, जिसमें उसके नितम्बों को चूमना भी शामिल है। जीवन का दरवाजा (Life of door) जो कि मुम्बई की दागोबा जुनार गुफा का है, जो योनि के आकार का है, जिसमें नगनावस्था में खड़ी आकृति में स्त्री को दिखाया है, यह आकृति योनि का अभिप्राय हैं, जिसको हम शक्ति कह सकते हैं, जिसमें मातृत्व की पूजा सर्वश्रेष्ठ है और इसका समय ईसा से पहले माना गया है। 'अर्थवेद के अनुसार मैथुन एक शुभ विचार है, इस क्रिया के दृश्य हमें IInd Cent. B.C. से प्राप्त होते हैं, जिसका 300 B.C. Cont. की रोपर टेराकोटा मुद्रा सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, जिसमें एक नग्न स्त्री एक आदमी की गोद में बैठी है। (चित्र संख्या— 31) भारतीय कला में मानवरूपी (Anthropomorphic) काम चिन्ह दो प्रकार के बताए गए हैं।¹⁶⁸¹

“कुमार स्वामी के अनुसार आत्मा का ब्रह्मा के साथ मिलन जिसका उदाहरण राधा—कृष्ण प्रेम प्रथा है।¹⁶⁷¹

“पुरुष व प्रकृति का मिलन जिससे प्रत्यक्ष जगत का सृजन होता है। मन्दिर जो काम को समर्पित है, उसमें स्त्री व पुरुष, पुरुष और जानवरों को मन्दिर की दीवारों पर प्रेमरत दिखाया है, उसी प्रकार रोम कलाकारों ने वास्तविक आदम कद स्त्री—पुरुष को विभिन्न स्थितियों में रति क्रियाएं करते हुए बनाया है, जिसका उदाहरण गोल्डन पैलेस के बैंकिट हाल की दीवारें हैं। एक मोहर जो मोहन जोदड़ो व हड़प्पा से मिली है। जिसमें नग्न स्त्री आकृति जिसका सिर नीचे की तरफ झुका हुआ और पैर ऊपर की तरफ उठाए हुए दिखाए हैं, इसके गर्भ से एक पौधा निकल रहा है, यह मात्र काम क्रिया न होकर जन्म होने के सिद्धांत को भी दर्शाता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं, कि प्रेम सम्बन्धी क्रिया पैदावार के संस्कार से जुड़ी हुई है।¹⁶⁸¹ मैसोलिथिक गुफा चित्र जो कि भीम बैठका, खारवाई, यौरा, कथौड़िया, बोरि, चिकलोड में वासना को दर्शाते हुए रेखांकित व चित्र मिलते हैं। धीरे—धीरे ये रेखा चित्र मोहरों पर दिखाई देने लगे व बाद में स्तूपों व खम्बों में भी इन्हें चित्रित किया गया है। इसके

5. D. H. Gordon, op.cit.(trans). Pg 130

6. J Marshall, Mohenjodaro and Indus Civilization, Vol.I (trans) pg 51-59

7. J. N Banerjee, Development of Hindu Iconography, (trans), pg. 490

8. J Marshall, op. cit., (trans) pg 63-65

बाद 950 AD से वे मंदिरों की दीवारों पर मूर्तियों के रूप में प्रदर्शित होने लगीं। इसमें कोई शक नहीं कि संस्कृत साहित्य और चित्रकला ने काम चिन्हों को 200 AD से 950 AD तक स्थान दिया। उदाहरणार्थ अजंता चित्रकला व Chourapanchisika.

3.3 चतुष्पद रूपी आकार चिन्ह (Theriomorphic Symbols)

‘इस प्रकार के प्रतीकों ने जानवरों को मानव के साथ दिखाया है। कुछ प्रेमरत्न क्रियाओं में स्त्री का युगल आदमी न होकर जानवर को दिखाया है। ज्यादातर वह घोड़े के रूप में है। संस्कृत साहित्य में अश्वमेध योजना में एक प्रमुख योनि को प्रतीक रूप में घोड़े के लिंगम् को स्त्री की योनि में दिखाया है। यहाँ हमें पता चलता है, कि वैदिक लोगों के दो प्रजनन रीवाज थे। पहला घोड़े के साथ दूसरा बन्दर के साथ। पहला रिवाज आर्य लोगों के रिवाजों में ज्यादातर शामिल था, जिसमें घोड़े का बलिदान होता था। अपने पास उसका लिंगम् और अण्डकोष रखने के लिए।

खजुराहों मंदिर, पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क प्रेमसंबंधी क्रियाओं के प्रदर्शन का प्रमुख केन्द्र थे। वह हमारी सुदृढ़ पैट्रिक ऐतिहासिक संस्कृति को बताता है, जोकि प्रागैतिहासिक काल से देखे जा सकते हैं।⁹ जो बहुत सारे समूहों के जीवन को दिखाती थी कोई भी आसानी से इनके रीति-रिवाजों व सामाजिक जीवन को इनके रेखा चित्रों के माध्यम से जान सकता था, जिसके उदाहरण हमें नागर, मोहम्दापुरा, खरवाई, भोपाल, अमरमड़, भीम बैठका, नामोरी, साँची, नाहर गड़ और मध्य भारत आदि में देखे जा सकते हैं। इन प्रस्तर चित्रों में अधिकांश प्रेम युगल चित्र हैं। अपने प्रारम्भिक दौर में यह लोग प्रजनन अंगों को बनाना नहीं जानते थे। परन्तु बाद में इन्होंने इसे रूढ़ लौकिक तरीके से किया। हमें भीमबेटका नागोरई, साँची और बोरी में कुछ रेखाचित्र ऐसे मिले हैं। जो कि गर्भवती महिलाओं, बच्चे का जन्म और माँ व बच्चे के हैं। हालांकि ये रेखा चित्र सिर्फ एकल रेखाओं द्वारा चित्रित हैं, पर फिर भी हम आसानी से प्रेम युगल श्रृंगार सम्बन्धी रेखाचित्रों को आसानी से पहचान सकते हैं। भीमबेटका गुफा चित्रों से हमें प्रागैतिहासिक कालीन लोगों के यौन सम्बन्धी जीवन के बारे में पता चलता है। यौन सम्बंध से पहले की क्रियाओं को भी इन रेखाचित्रों में आसानी से देखा जा सकता है। बोरी गुफा चित्रों में यौन सम्बन्ध को उल्टी लेटी अवस्था में दिखाया है। ये सारे रेखाचित्र प्रागैतिहासिक कालीन लोगों के यौन सम्बन्धी जीवन के बारे में बताते हैं। ये रेखा चित्र काल्पनिक नहीं बल्कि वास्तविक सामाजिक जीवन को दिखाते हैं। यहां कुछ रेखा चित्र ऐसे भी देखने में आते हैं, जिसमें पुरुष का लिंग एकदम सीधा है, जो पंचमाधी गुफा नं. 2 में बना है। इस तरह हम कह सकते हैं, कि प्रागैतिहासिक काल में भी यौन सम्बंध से पहले की क्रियाएं काफी प्रचलित थी।¹⁰

‘लादीनी गुफा में एक समूह (पुरुष) को दिखाया है, जिसमें उनके लिंग को सीधा खड़ा बनाया है। इस तरह के विषय शायद उनके कुछ रीति रिवाजों से जुड़े हों। नागोशी सांची गुफा (शुंग सातवाहन काल) से प्राप्त चित्र में एक युगल, एक दूसरे को आलिंगनबद्ध रूप में सीधा खड़े हुए लिंग के साथ दिखाया गया है, जो शायद उनके शारीरिक उतार इतने वास्तविक तरीके से मैथुनरत्न मुद्रा में बनाया गया है। यौन सम्बन्धों की उन्मुक्तता देखायी देती

9. D. Desai, *Erotic Sculpture of India* (trans) pg. 13-15

10. R.D Banerjee, *Bas-Reliefs from Badami*, (trans) pg. 54-55

हैं, इन सब रेखाचित्रों में हम बोरी गुफा से प्राप्त चित्र लज्जा गौरी को उत्तम श्रेणी में रख सकते हैं। इन सब रेखाचित्रों को देखकर हम कह सकते हैं, कि प्रागैतिहासिक कालीन लोगों की यौन सम्बंधी क्रियाएं आज के समय के लोगों की यौन सम्बंधी क्रियाओं से भिन्न नहीं थी।”¹¹¹¹

3.4. सिंधु घाटी की सभ्यता

‘सिंधु घाटी से प्राप्त सामग्री से हमें उपजाऊ के धर्म का पता चलता है। प्राचीन काल से इसका विशेष महत्व है। श्यामलाजी की पहाड़ियों में मैथुनरत् युगल का दृश्य पाया गया है उस समय इस तरह के दृश्य इतने अधिक बनाए गए कि एक आम आदमी इन विषयों की अधिकता को लेकर सोचने पर मजबूर हो गया कि क्यों इस प्रकार के दृश्य इतने ज्यादा बनाए गए। इस प्रकार के चित्र स्त्री एवं पुरुष के जननांग प्रसिद्ध धार्मिक प्रतीकों के मुख्य तत्त्व होते थे जो कि



चित्र सं. 4

नैतिक आज्ञा थी या अध्यात्मिक सोच को लेकर था या सामाज की उन्मुक्तता जो कि गति क्रिया एक रोजमर्रा की क्रिया मानता था। मोहन जोदड़ो के काल से ही पूर्ण उत्पत्ति के चक्र को भारतीय धर्म में अधिकता के साथ दिखाया गया। बहुत से लिंग पूजन संबंधी पत्थर में पुरुष को आधे जानवर के रूप में बनाया है, जोकि शिव की तरह (पशुपति) दिखता है। (चित्र संख्या-4) सिन्धु घाटी की सभ्यता में कोई मैथुनरत् मूर्ति नहीं मिली। महाराष्ट्र के अहमद नगर जिले के धैमाबाद जिले में एक बर्तन पर मैथुरत् युगल दिखाया गया है।”¹¹²¹

325 BC-300 AD भारत में उत्तर पश्चिम से लेकर पूर्व तक सुप्रसिद्ध देवीतुल्य आकृतियां गोलाकार पत्थर के ऊपर पाई गई। पूर्वी भारत में मुख्यतया रूपर तक्षशिला, इन्द्रप्रस्थ, भीता, राजघाट, मथुरा, वैशाली, पटना आदि आते हैं। यह पत्थर मौर्य व शुंग कालीन थे। कौशांबी झांसी में आरम्भिक ईसाई युग में एक नग्न देवी रूप दिखाई देता है। यह जो देवी की मूर्ति है, पूरी तरह



चित्र सं. 5

से नग्न अवस्था में दिखाई है, जो कि मेढ़क की तरह से पैर फैलाकर अपनी योनि को दिखा रही है। कौशांबी से प्राप्त सिनिवाली देवी जो कि वैदिक उत्पत्ति की देवी है। प्राचीन काल के उत्पत्ति के रिवाज को पत्थर पर मैथुनरत् मुद्रा में दिखाया गया है, जो कि नकारा नहीं जा सकता।”¹¹³¹ मध्य प्रदेश के जिला मुंदसर से प्राप्त टेराकोटा में मोहर में जो मूर्ति है, जो कि 100 से 300 AD¹⁷⁶¹ की है, उसमें उत्पत्ति की देवी दिखाई गई है। उसी मोहर में दूसरी और दो प्रेमी युगल दिखाए गए हैं। चन्द्रकेतु से प्राप्त विभिन्न मुद्राओं में मैथुन संघ की मूर्तियां हैं। जिनमें सामने से मुख से और सिर झुकी हुई मुद्रा में, बैठी मुद्रा में या खड़ी मुद्रा में मैथुनरत् है। बहुत सारी टेराकोटा में मूर्तियों में स्त्री पक्ष को योनि को दर्शाते हुए दिखाया गया है।”¹¹⁴¹ “200 BC से शालभंजिका व प्रेमी युगल चित्रण को ही टेराकोटा युगल प्रेमी के रूप चित्रित किया है। नासिक गुफा (3) के दरवाजे पर सबसे प्राचीन मैथुनरत् चिन्ह पाया गया।

11. F. Fergusson and J. Burgess, The Cave temples of India, (trans), pg. 119

12. J Marshall, op. cit., (trans) pg 85-87

13. Epigraphica Indica, Vol. XXIX, (trans) pg. 138-140

उसके ऊपर गौतमी पुत्र सतक के लिखित दोहे हैं। (106 AD से 130 AD) गांधार कालीन कला में प्रेमी युगल को शुभ चिन्हों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विशेष कालों के आधार पर मिथुना आकृतियों (चिन्हों) को विभिन्न स्तरों में बांटा गया है। (1) विषय वस्तु (2) सामाजिक व धार्मिक अवस्था। पहली अवस्था में नग्न अवस्था में देवी-देवताओं की मूर्ति श्रृंगारिक युगल चिन्हों के रूप में बनाई जाती थी। दूसरी अवस्था में मूर्तिकार ने (1st स III Cent AD) प्रेमी युगल के विभिन्न प्रकार की काम क्रिया को दिखाया है। गहरे धार्मिक विश्वास के कारण प्रेमी युगल चिन्हों को मंदिरों की दीवारों अथवा स्तम्बों पर या आलों में शुभ करने वाला (शगुन देने वाला) या शुभ देने वाले रीति-रिवाज समझकर बनाया जाता रहा है।¹⁴ 115I

300 AD 950 AD गुप्त काल में प्रेमी युगल को काफी सुरक्षा मिली। दास बतरा मंदिर जो कि देवगढ़ (500 Cont. AD) में बनाया गया उसकी दीवारों पर काम की विभिन्न क्रियाओं को बनाया गया। नग्न स्त्रियों व प्रेम चिन्हों को भी दीवारों पर उकेरा गया है। चालुक्य काल के दौरान मूर्तिकारों ने स्तम्बों के ऊपर विभिन्न प्रकार के प्रेम सम्बंधी चिन्हों को उकेरा। गुफा नं. 3 में भी काफी कामुक आकृतियां दीवारों व छतों पर उकेरी गयी हैं। यहां पर एक पैनल सुनकीन जो कि वास रीलिफ के रूप में है जो स्तम्बों, पीछे की दीवारों, बरामदे और मण्डप के ऊपर भी उकेरी गई है। जिनमें ज्यादातर स्त्री व पुरुष की कामुक मुद्राएं बनाई गई हैं। इस गुफा की समकालीन गुफा अजंता व ऐलोरा में भी प्रेम सम्बन्धी चिन्ह देखे गए हैं। दुर्गा मंदिर, कोण्टगुडी मंदिर, आइहोल का लदकन मंदिर (600-800 AD) क्रमानुसार इन सभी मंदिरों में कामुक युगलों को विभिन्न काम क्रियाओं व काम मुद्राओं में दिखाया गया है। इन स्थानों को हम बहुमूल्य वासनामयी मुद्राओं के रूप में याद रख सकते हैं। आन्ध्र प्रदेश के आलमपुर में स्थित मंदिर की पिछली दीवारों पर प्रेमी युगलों की आकृतियां बहुतायत में उकेरी गई हैं, इस मन्दिर की मुख्य देवी नगमा कबांध और बटकम्मा मुख्य मंदिर में बनाई गई जो कि नग्न कमल के सिर वाली देवी हैं। भक्त इस देवी की पूजा-अर्चना इसकी यौनि के द्वार पर मक्खन व चीनी लगाकर करते हैं, जो कि सम्भवतया प्राचीन काल से नगमा देवी धार्मिक विचार है, जिसमें की वह अपने जननांगों को दिखाती हैं। उड़ीसा में भुवनेश्वर व उसके आस-पास प्रेमी युगल चिन्हों को बनाया गया है।¹⁵ 116I परशुरामेश्वर मंदिर 650 AD जोकि भुवनेश्वर में है, इसमें कामी शालभाजिकाएं तथा विभिन्न काम क्रिया में लिप्त युगल प्रेमी उकेरे गए हैं। 600-950 A.D. में समाज ने श्रृंगारिक चिन्हों मंदिरों की दीवारों पर सामान्य जीवन का माध्यम और काम कला को सीचने के स्रोत के रूप में स्वीकार कर लिया था। कलात्मक तरीके से और यह भी माना गया कि प्राचीन कालीन मूर्तिकार सिर्फ सृजनात्मकता व कलात्मकता में ही निपुण नहीं थे बल्कि वे महान गुरु थे श्रृंगारिक कल्पनाओं के। पुराने समय में मंदिरों को सृजन के भ्रम को समझाने के लिए पूरी तरह से तकनीक व अध्ययन का केन्द्र बनाया गया। यह काल श्रृंगारिक प्रेम के इतिहास को धार्मिक कला में दर्शाने के एक प्रमुख भाग को दर्शाता है। क्योंकि पूर्णतया विकसित प्रेम व काम की आंतरिक स्थिति है।¹⁶ 180I

14. Indian Antiquity: A Review 1962-63 (trans) pg. 49

15. F. Fergusson and J. Burgess, op. cit. (trans) pg 127-29

16. R.D Banerjee, op. cit. (trans) pg. 69-71

17. O. C. Ganguly, Orissan Sculpture and Architecture (trans). Pg. 119

950 AD-1250 AD इस काल में श्रृंगारिक चिन्ह अपने स्वर्णकाल में थे। यह लम्बे विकसित शारीरिक प्रदर्शन का उन्नत भाग था। प्रेम सम्बन्धी चिन्ह मुख्यतया मंदिरों की दीवारों पर उकेरे जाते थे क्योंकि मंदिर सब के लिए एक सार्वजनिक स्थान था और यह एक दम सही जगह थी अपने कलात्मक गुर दिखाने की।

3.5 मध्य भारत

‘भारत में खजुराहों उन सभी स्थानों में सबसे प्रमुख स्थानों में से एक है, जहां पर श्रृंगारिक मूर्तियां बनी। ये मंदिर चन्देल राजाओं के काल में बने जिसका समय 950 AD से 1150 AD है। यहां पर श्रृंगारिक मूर्तियों को प्रमुख स्थान दिया गया है। लक्ष्मण, प्रश्वनाथ विश्वनाथ, देवी जगदम्बा, चित्रगुप्त और कंदारिया महादेव जोकि 950 AD से 1050 AD के मध्य बनाए गए।’¹⁸ 1181 ‘लक्ष्मण मंदिर में विभिन्न प्रकार के श्रृंगारिक मूर्तियां बनी है। उदाहरण के लिए काम से पहले की क्रिया, चुम्बनरत्न, आलिंगनबद्ध आदि—आदि परन्तु यहां आश्चर्यजनक बात यह है, कि पार्श्वनाथ मंदिर जो कि 955 AD में बना एक जैन मंदिर है, उसमें भी श्रृंगारिक मूर्तियाँ बनी। जैन धर्म को समर्पित होने के बावजूद खजुराहों से प्राप्त मंदिरों में कंदारिया महादेव सबसे बड़ा व सुन्दर मंदिर हैं, जो कि (1025-1050 AD) में बना, इस मंदिर की दीवार पर विभिन्न प्रकार की काम मुद्राओं के अलावा सामुहिक काम की मूर्तियों को बाहरी दीवार पर खूबसूरती के साथ उकेरा गया। गर्भ ग्रह में भी श्रृंगारिक चिन्हों को उकेरा गया है। जिसमें की नग्न रसिक स्त्री की मूर्तियां प्रमुख है।’¹⁹



चित्र सं. 5

श्रृंगार करती हुई स्त्री

खजुराहो

मध्य प्रदेश भारत के मध्य भाग में स्थित है। यह बावडी व मंदिरों का राज्य है। पहाड़ीयां विभिन्न किलो तथा महलो से भरी है। यह राज्य पथरीली पहाड़ीयों तथा सागवान की खूबसूरती के लिए जाना जाता है। मध्य प्रदेश का बुंदेलखंड राज्य में ग्रेनाइट पत्थर काफी पाया जाता है। रेवा ईलाके में केमूर की पहाड़ी में रेतिला पत्थर पाया जाता है जिनके द्वारा मध्य प्रदेश में मंदिरों का निर्माण हुआ।

मध्य कालीन भारतीय मंदिरों में खजुराहो अपने आप में एक खूबसूरत उदाहरण है। खजुराहो का नाम खजुर से लिया गया। शहर के मुख्य द्वारों पर माना गया है कि दो सोने के खजुर के पेड़ हुआ करते थे जिस वजह से इस शहर का नाम खजुराहो पड़ा। राजा यशोवर्मण के राज में मंदिर निर्माण का काम आरम्भ हुआ उन्होंने लक्ष्मण मंदिर के निर्माण की स्थापना की, जो विष्णु को समर्पित था उसकी स्थापना उनके पुत्र ढांगा ने उस मंदिर में और सुंदर निर्माण कराया तथा और कई मंदिरों जैसे कंदारिया महादेव, देवी जगदम्बा, चित्रगुप्त, विश्वनाथ, पार्श्वनाथ आदि का निर्माण कराया। खजुराहों में 85 मंदिर जो शिव, विष्णु व जैन धर्म को समर्पित है। परन्तु ज्यादातर शिव को समर्पित है जिनकी छत ऊंची

18. Vidya prakash ,Khajuraho (trans) pg. 175

19. J. N. Banerji, Khajuraho (trans) pg. 123

ऊंची बनाई गई थी। इनमें से अब केवल 22 मंदिर बचे हैं जो मौसम और सामाजिक परिस्थितियों के बावजूद बचे हैं। इन मंदिरों की खुबसूरती इनकी सतह बनावट एवं स्थान साज-सज्जा पर आधारित है। हर मंदिर एक ऊंची छत लिए हुए है। कंदारिया महादेव शेष मंदिरों में सबसे बड़ा मंदिर है इसकी लम्बाई 109 फीट चौड़ाई 59 फीट और ऊंचाई 116 फीट है इसमें मुख्यतया नाईका की आकृतिया बनी हैं तथा उनकी खुबसूरती को बहुत ही सहज व स्वाभाविक रूप से दर्शाया है। इस मंदिर में अर्ध मण्डप, मण्डप महामण्डप, अन्तराल, गर्भग्रह जिमें मुख्य मूर्ति विद्यमान होती है। मंदिर की छत पर भी बहुत खुबसूरत उत्कीर्ण कि गई है। इस मंदिर के अन्दर कुल 872 मूर्तियां हैं जिसमें 226 मंदिर के भीतर तथा 646 मंदिर की बाहरी दिवारों पर उकेरी गई है। जिनकी ऊंचाई ढाई से तीन फीट के बीच है, इनमें से अधिकतर कामुक युगल व एकल मूर्तिया हैं जिन्हें बहुत ही सुन्दर व सहज ढंग से उकेरा गया है। 'कंदारिया के उत्तर में देवी जगदम्बा का मंदिर है। कंदारिया की अपेक्षा इसका परिपेक्ष इतना सुंदर नहीं है। परन्तु इसमें अपनी एक अलग प्रकार की खुबसूरती है। यह मंदिर 77 फीट लम्बा 49 फीट चौड़ा हैं। महामण्डप की ओर तक दो रेलिंग बनाई गई है। देवी जगदम्बा मंदिर के ऊतर में चित्रगुप्त मंदिर है। हालाकि यह उसी सिद्धान्त पर बना है परन्तु इसकी ऊंचाई व लम्बाई 87 तथा चौड़ाई 58 फीट है इसकी छत खासतौर से आकृषित करती है। जिसमें कई प्रकार के गोलाकार आलेखन उकेरे गए हैं। यह मंदिर भगवान सूर्य को समर्पित है।"120I

‘विश्वनाथ मंदिर कंदारिया महादेव की तरह ही बना है जिसकी लम्बाई 87 फीट चौड़ाई 46 फीट है। यह मंदिर भगवान शिव को समर्पित है। लक्ष्मण मंदिर जिसे चतुरभुज के नाम से भी जाना जाता है यह विष्णु को समर्पित है। इसकी लम्बाई 85 मूर्तियां उकेरी गई है। सुर सुन्दरियों की आकृति चन्देल काल में नारी की महत्वता को दर्शाता है। इनमें आकृतियों को विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में लीन दिखाया है। कोई बांसुरी बजा रही है तो कोई कमल के फूल के निचे बाल से खेल रही है। लक्ष्मण मंदिर में बनी इस मूर्ति में स्त्री को नग्न नहीं दिखाया परन्तु उसके वस्त्र प्रादर्शी बनाये गये हैं जो इसकी कढ़ाई से पता चलता है। एक मूर्ति में एक सुन्दर स्त्री पत्र लिख रही है यह मूर्ति अब कोलकाता संग्रहालय में रखी है। (चित्र संख्या— 35) इन मंदिरों में कई मूर्तियां युगल की क्रियाकलापों को दर्शाती है। ये क्रियाएं जीवन यापन के लिए मुख्य स्रोत है।"186I फीट और चौड़ाई 44 फीट है इसमें 230 मूर्तियां बाहरी दिवारों पर तथा 170 मूर्तियां भीतरी दिवारों पर उकेरी गई है।"121I



चित्र संख्या —35
पत्र लिखते हुए स्त्री
विश्वनाथ मंदिर

‘चंदेल काल में जैन धर्म का फैलाव काफी बढ़ गया था। पार्श्वनाथ मंदिर इसका एक जीता-जागता उदाहरण है। यह मंदिर 68 फीट चौड़ा व 33 फीट लम्बा है इस मंदिर का मुख पश्चिम की तरफ है। मंदिर के पिछले भाग में एक छोटा सा मंदिर है जो इसका मुख्य आकर्षण है। इसमें महामण्डप, अन्तराल व गर्भग्रह बने हैं। मंदिर के मुख्य द्वार पर जैन देवी गरुड़ पर सवार उड़ती हुई दिखाई गई है। बाहरी दिवारों पर विभिन्न प्रकार की खुबसूरत

20. Vidya prakash, op.cit. (trans) pg. 187

21. त्रिपाठी रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएं, पृ-1-69-70

अप्सराओं की मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। अधिकतर नारी आकृतियाँ पीछे की ओर अपनी कमर लचकाती हुई या वक्ष स्थल दिखाती हुई बनाई गई हैं। मंदिर की उत्तर की तरफ की मूर्तियों में स्त्री को बच्चे के साथ खलते हुए, एक स्त्री को पत्र लिखते हुए, एक स्त्री को पैर से काटों निकालते हुए और एक स्त्री को सजते संवरते हुए बनाया गया है। “1221

36 पश्चिमी भारत

मध्य हिन्दु काल में उड़ीसा अपनी कलात्मक गतिविधि के कारण केन्द्र बिन्दु था। इस काल में यहां बहुत सारे मन्दिरों का निर्माण हुआ और इनमें से कुछ मंदिरों की पहचान भारतीय वास्तु के उत्तम नमूने के रूप में हुई। यहां पर परशुरामेश्वरम्, मुक्तेश्वरा, लिंगराज मंदिर जो कि भुवनेश्वर में स्थित है। कोणार्क सूर्य मंदिर अपनी मूर्तियों की दक्षता के लिए जग प्रसिद्ध है। उड़ीसा के मन्दिरों में मुख्यतया श्रृंगारिक व कामुक मूर्तियाँ भुवनेश्वर कोणार्क व पूरी में बने हैं।”1231 मुक्तेश्वर मंदिर जो कि 1000 AD में बना अपनी कामुक शालभंजिकाओं की मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है। लिंगराज मंदिर जो भुवनेश्वर में स्थित है, 1060 AD बना इस मंदिर की दीवार पर विभिन्न काम क्रियाओं व प्रेमी युगलों को या मुख काम को बहुत ही दक्षता व सुन्दरता के साथ उकेरा गया है। यहां पर सामूहिक काम—क्रियाओं को भी उकेरा गया है।”1241 सूर्य मंदिर जो कि कोणार्क में स्थित है, (1238 - 1264 AD) श्रृंगारिक मूर्तियों से सजा हुआ है। इनमें मुख्यतया शालभंजिकाएं व नग्न स्त्रियों की आकृति, नागा युगल, प्रेमी युगल विभिन्न काम का राज था। जो कि गुप्त दवाईयों को बनाती थी, व इंसान को वासनामयी जीवन तथा इंद्रिय आनन्द प्रदान करती थी।”1251

सूर्य मंदिर कोणार्क

उड़ीसा का कोणार्क मंदिर जो सूर्य को समर्पित है। राजा नरसिंह देव के राज्य में 1230—1280 शताब्दी में बना बुद्ध काल के पतन के बाद सूर्य की पूजा भारत में मुख्य हो गई। विष्णु को सूर्य के रूप में दिखाया गया है। सूर्य को समर्पित कई मंदिर बनाये गये परन्तु कोणार्क की तुलना में कोई नहीं है। सूर्य भगवान को जीवन का स्रोत व उत्पत्ति का भगवान माना गया है नारीयाँ सूर्य की पूजा सन्तान मुद्राओं में उकेरी गई हैं, तथा सामूहिक काम व मुख काम चारों तरफ दिवारों पर उकेरे गए हैं। जितनी भी श्रृंगारिक मूर्तियाँ बनी वे कमल के आधार पर उकेरे गए हैं। यहां पर हम यह कह सकते हैं, कि जब उड़ीसा के मंदिर बन रहे थे और उनमें श्रृंगारिक तत्वों को बनाया जा रहा था। तब उस समय पूरा ईलाका आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में एक ऐसी संस्कृति पाने के लिए करती थी और पुरुष स्वास्थ्य एवं भौतिक सुखों के लिए करते थी। एक समय कोणार्क भारत का एक मुख्य समुद्री तट होता था। कोणार्क मंदिर के मुख्य द्वार के सामने काले पत्थर के स्तम्भ जो 50 फीट ऊंचे हैं। नो सिद्धि चढ़ने के पश्चात खुला स्थान है जिसमें पत्थरों के द्वारा एक आर्क बनाई गई है। जिस पर सूर्य व तारे उकेरे गये हैं। उनके आस—पास के बोर्डर पर विभिन्न प्रकार के श्रद्धालु विभिन्न क्रियाएं करते दिखाये गये हैं। सूर्य मंदिर एक प्रकार के रथ रूप में दिखाया गया है

22. J. N. Banerji, op.cit. (trans) pg. 187

23. त्रिपाठी रामाश्रय, पूर्वोक्त पृ. 1-97-98

24 O. C. Ganguly, op.cit (trans). Pg. 132

25 Ibid (trans). Pg. 140

जिसके दोनों तरफ 12-12 पहिये बनाये गये हैं, जोकि सूर्य भगवान के रथ के रूप में बनाया बनाया गया था।”^{126I}

3.7 दक्षिण भारत

‘रामापा मंदिर जो कि पालमपेट (वांगल जिले) में बना है उसकी बाहरी दीवारों के श्रृंगारिक चिन्हों से सजाया गया है। उनमें मुख्यतया युगल प्रेमी व युगल प्रेम चिन्हों को बनाया गया है। एक नग्न स्त्री जो कि एक रूप से लिपटी हुई शोभा मण्डप के स्तम्भ के ऊपर उकेरी गई है।

होयशाला काल के (1200 – 1300 AD) मंदिरों में भी कुछ श्रृंगारिक चिन्हों को उत्कीर्ण किया गया है। जिनका आकार खजुराहों के शिल्पों की तुलना में छोटा है। होयशालेश्वरा मंदिर जो कि हैलीविद (1182 AD) में है, उसके बेसमेंट में कुछ युगल मूर्तियां बनाई गई हैं। जो कि मुखकाम की क्रीड़ा में हैं। यहाँ पर कुछ मूर्तियां उकेरी गई हैं, जिसमें स्त्री व पुरुष अपने अंगों का प्रदर्शन करते हुए बनाए गए हैं, तथा होयशाला काल के मन्दिरों में कुछ जूफीलीक मूर्तियों को उकेरा गया है। इनमें गधे के साथ काम क्रिया करते दिखाया गया है।”^{127I}

3.8 विभिन्न प्रकार के कामाभ्यास (रीति)

‘स्त्रियाँ मुख्यतया उदासीन काम क्रिया (दुलार करने में) जैसे— चुम्बन, आलिंगन करती हैं। साधारणतया कामानन्द लेने के लिए स्त्रियों को उत्तेजित करना पड़ता है। काम से पहले के क्रियाएं जैसे उनके वक्ष स्थल को दबाना, योनि को सहलाना, चुम्बन व आलिंगन करना ये सभी क्रियाएं स्त्री को कामोत्तेजित करने के लिए प्राचीन समय से प्रचलित हैं। जिसके उत्तम उदाहरण हैं। लक्ष्मण मंदिर में (खजुराहो) जिसमें कि स्त्री को पुरुष का लिंग हाथ में लिए हुए अथवा चूमते हुए तथा पुरुष को वक्ष स्थल को दबाते हुए बनाया गया है।”^{128I}

शारीरिक संबंध मुख्यतया तीन भागों में बांटा जा सकता है :-

- (1) सत्यता (Acknowledged)
- (2) निन्दनीय (Condemned)
- (3) दण्डनीय (Punished)

3.8.1 सत्य

- इस तरह के काम (शारीरिक सम्बन्ध) समाज में स्वीकारीय हैं, जो वात्सायन ने कामसूत्र में बताए हैं।
- एक आदमी द्वारा अपनी पत्नी के साथ, दोबारा शादी शुदा औरत के साथ, नाईका से जिसका मुख्य कारण शारीरिक सुख प्राप्त करना।
- काम क्रियाएं अपनी जाति की कुमारियों के साथ जो कि उस समय कानूनन सही मानी जाती थी।

26. B. SSwarup, Konarak: The Black Pagoda. (trans) pg. 21

27. A. Watts, The temple of Konarak, (trans) pg. 30-32

28. S.K. Saraswati, A Surey if Indian Sculpture (trans) pg. 121

- काम क्रिया चार प्रकार की नाईकाओं के साथ, देवदासी की पुत्री के साथ, स्त्री नौकरानी के साथ ।

इस प्रकार के शारीरिक व प्रेम सम्बन्ध जो कि समाज के द्वारा स्वीकारीय नहीं है । अगर किसी भी इन्सान के सम्बंध इनमें से किसी भी प्रकार के हैं, वे निन्दनीय है

3.8. निन्दनीय

- मित्र की पत्नी के साथ
- पत्नि की बहन के साथ
- जाति के बाहर की महिला के साथ
- वैश्या के साथ
- वह स्त्री जो कि नज़दीकी रिश्तेदार है
- ब्राह्मण की व गुरु की पुत्री के साथ

इनके अलावा इनके साथ जिनके एक से अधिक विवाह हुए हो अथवा एक से ज्यादा जीवित पति हैं । महाभारत में इसका उदाहरण कुंति के रूप में मिलता है । जिसने पाण्डु के साथ शारीरिक सम्बन्ध न बना सकने के कारण पांच देवताओं से भिक्षा मांगी, जिससे वह गर्भवती हुई और पांच पाण्डवों का जन्म हुआ और इन पाँच पाण्डवों ने द्रौपदी से विवाह किया ।”²⁹

3.8.3 दण्डनीय

इस प्रकार के सम्बन्धों को दण्डनीय माना गया है, जैसे –

- जानवरों के साथ
- समान लिंग के लोगों के साथ ³⁰

3.9 विभिन्न प्रकार के मैथुन

प्रेम में शारीरिक सम्बन्धों की शुरुआत विभिन्न प्रकार की काम क्रिया तकनीकों से होती है । (1) चुम्बन (2) आलिंगन, लाड़ आदि ।

प्रेमी अथवा पति अपने चुम्बन को सिर्फ होंठों और गालों तक ही नहीं सीमित रखता वरन् वह गहरा आनन्द प्राप्त करने के लिए दूसरे शारीरिक अंगों का भी चुम्बन करता है । जैसे—चूचक, नाभी तथा दूसरे जनन अंग । वात्सायन के अनुसार तीन प्रकार के चुम्बन बताए गए हैं ।

- The normal kiss on the mouth.
- The moving kiss on the lower lip.
- The touching kiss on the man's lower lip with a woman tongue.

वैसे कामेच्छा गहरे चुम्बन से जिसमें जीभ का स्पर्श, होंठों से मुख, मुख से वक्ष स्थल से स्त्री उत्तेजित होती है । साधारणतया मूर्ति शिल्पों में स्त्री के नितम्बों को अधिक सुख पाने के लिए अधिक भारी व मोटा बनाया जाता था । उसी प्रकार एक दूसरे के जननांगों का आलिंगन भी अधिक उत्तेजना के लिए किया जाता था ।,

29. G. R. Scott, Phallic Worship, (trans) pg. 25

30. Vatsyana, Kama-Sutra' Kasi Sanskrit Serie, Tran. By A. V Sashtri (trans) pg. 119-125

साधारणतया चार प्रकार के आलिंगनों का वर्णन किया जाता है।

- लतावेसातितका —इसे बैल की तरह लिपट बनाया जाता है।
- वक्साधिरूधका — इसमें इस प्रकार बनाया जाता है, मानो पेड़ पर चढ़ रहे हों।
- तिलेतन्दुलका —यह इस प्रकार बनाया जाता है, मानों चावल के साथ बीज मिले हों।
- कुषरानिरा —इसमें इस प्रकार बनाया जाता है मानो दूध और पानी आपस में आलिंगन कर रहे हों शारीरिक उत्तेजना शरीर की एक क्रिया है। जब एक स्त्री और पुरुष शारीरिक क्रीड़ा करने को तैयार हों।”1321

वात्सायन ने अपने ग्रन्थ कामसूत्र में स्त्री व पुरुष के सबसे संवेदनशील अंगों का वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं, — चूचक, नितम्ब एवं जननांग, होंठ, वक्ष स्थल आदि एवं पुरुष के लिंग का सिर (glanspenis) होंठ (lips), जीभ, आँखें आदि। ‘भारतीय कला में बहुत प्रकार के शारीरिक सम्बन्धों को बनाया गया है, जैसे —

- कुंलीगस — इसमें मुख काम क्रिया होती है, जिसमें की तीन स्त्री व पुरुष एक दूसरे के जननांगों को मुख से आलिंगन अथवा चूमते हैं।
- फ़ैलैलियो —इसमें एक स्त्री दूसरी स्त्री के साथ काम क्रीड़ा करती है।
- पुरुषाजीता — एक स्त्री व एक पुरुष, दो पुरुषों के साथ एक स्त्री जिसको संघटका कहते हैं।
- क्वीला — दोनों एक समय में काम क्रीड़ा करते हैं।
- जुफीला — इसमें स्त्री व पुरुष को जानवरों के साथ काम क्रीड़ाएं करते हुए बनाया जाता है।

ग्रन्थ संदर्भ

1. G.V.B. Reddy, 1986, Erotic Element in Ecenral Indian Rock-Art.
2. V.S. Wakankar, 1978, The Dawn of India Art
3. D. H. Gordon, 1978, The Prehistoric background of Indian Culture
4. J Marshall, Mohenjodaro and Indus Civilization, Vol.I
5. J. N Banerjee, Development of Hindu Iconography,
6. D. Desai, Erotic Sculpture of India
7. R.D Banrerjee, Bas- Reliefs from Badami
8. F. Fergusson and J. Burgess, The Cave temples of India.
9. Epigraphica Indica, Vol. XXIX.
10. Indian Antiquity: A Review .
11. O. C. Ganguly, Orissan Sculpture and Architecture
12. Vidya prakash ,Khajuraho
13 त्रिपाठी रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएं।
13. B. S. Swarup, Konarak: The Black Pagoda.
14. A. Watts, The temple of Konarak.
15. S.K. Saraswati, A Surey if Indian Sculpture
16. G. R. Scott, Phallic Worship,
17. Vatsyana, Kama-Sutra' Kasi Sanskrit Serie, Tran. By A.V Sashtri.
18. B. N. Basu.

भारतीय चित्रकला की सृजन प्रक्रिया

नेहा सक्सेना* डॉ० हरी ओम शंकर**

भारतीय चित्रण—परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन है। भारतीय चित्रण—परम्परा के मूल स्रोत हमें ऋग्वेद में मिलते हैं। काव्यकला, वास्तुकला एवं चित्रकला के उदाहरण प्रसंग वेदों में विराट् रूप में मिलते हैं। भारतीय कलाओं का सम्बन्ध लोकजीवन से अधिक निकट है। भारतीय कला स्वरूप, भारतीय संस्कृति के अनुरूप आध्यात्मिक एवं धार्मिक है, जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में सामाजिक उद्देश्यों से प्रभावित है।⁽¹⁾ सारी ललित कलाओं में चित्रकला का स्वरूप इतना विस्तृत है कि उसके लक्षण बड़ी ही सरलता से समझे जा सकते हैं। भारतीय चित्रकला का स्वरूप पूर्णरूप से कलात्मक है। भारतीय चित्रण शैली अभिव्यक्ति की दृष्टि से द्वितीय है।⁽²⁾ उसे काव्यचेतना का गतिमय चित्रण कहना ही उचित है।⁽³⁾

चित्रकारों ने रूपभेद को रेखाओं के द्वारा दर्शाने का सफल प्रयोग किया है।⁽⁴⁾ चित्रकारों ने सजीव भावों को आकार, रेखा, रंग और अलंकरण से इस रूप में वर्णित किया है। उन्होंने मूक चित्रों को वाणी प्रदान की है। श्री विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अन्तर्गत चित्रसूत्र में वर्णित रूप निरूपण—सिद्धान्त और नृत्यकला सिद्धान्त से प्रेरणा लेकर अजन्ता चित्रण शैली अभिनययुक्त क्रिया में प्रस्तुत है।⁽⁵⁾ भारतीय चित्रण शैली में नृत्य एवं नाट्यकला की प्रचलित क्रियाओं का, शारीरिक मुद्राओं और अलंकारों का सफल प्रयोग मिलता है। चित्रकारों ने नैसर्गिक रूप में आकृतियों को दर्शाने में नृत्य की मुद्राओं का अधिक प्रयोग किया है। कला अभिव्यक्ति के अन्य कारक, भारतीय चित्रण शैली में प्रतीकात्मक ढंग से आकृतियों में वाणी का संचार करते हुये प्रतीत होते हैं।⁽⁶⁾ सभी पात्रों में एक दिव्य रूप परिलक्षित होता है। चित्रकार ने अपनी कल्पना और छन्दमयी बुद्धि का परिचय नारी को सुकोमल लतिका के समान तथा लयात्मक भंगिमाओं में चित्रित करके दिया।⁽⁷⁾

भारतीय चित्रण प्रक्रिया में स्पष्टतया भारतीय शिल्पशास्त्रों में वर्णित तत्वों का बड़ा सुन्दर समावेश किया गया है — गतिमय भंगिमाओं का निरूपण, रूप विन्यास, रेखाओं का प्रभावपूर्ण प्रयोग, रंग योजना, वर्तनाकर्म की योजना आदि चित्रसूत्र के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुये हैं।⁽⁸⁾ भारतीय चित्रण सदैव ही संसार में रेखा की प्रधानता के रंगों के लिये माना जाता है।⁽⁹⁾ चित्रकारों ने रेखा के लिये सफल साधना की है। यहाँ के चित्रकार रेखाओं के प्रयोग से भलीभाँति परिचित थे। अजन्ता चित्रण में चित्रकारों ने सभी कुछ रेखाओं के माध्यम से ही व्यक्त किया है। उन्होंने स्वरूप युक्त आकृतियों को रेखाओं में बाँध रखा था।⁽¹⁰⁾ चित्रकारों ने विषय को बड़े ही वर्णात्मक ढंग से व्यक्त किया है। प्रत्येक आकृति एक कहानी कहती हुई सी प्रतीत होती है। चित्रकारों ने जीवन्त चित्रों का सृजन पतली, मोटी और कोमल रेखाओं के माध्यम से किया है।⁽¹¹⁾ उन्होंने रेखाओं के द्वारा अपने अनुभवों, लघुता, बल, अलंकरण, उभार एवं कलात्मक अभिरुचियों को प्रदर्शित करने का विधान निश्चित किया है।

* माधव महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

**सहायक प्राध्यापक, चित्रकला विभाग, डी.ए.वी. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून

भारतीय चित्रण शैली भाव प्रधान है। इस भाव को परिपाक रूप में प्रस्तुत करने के लिये हस्त-मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं का प्रयोग किया गया है।⁽¹²⁾ चित्रकारों ने अपने चित्रण में भाव एवं रस का विशेष ध्यान रखा है तथा आकृतियों को कहीं भी भावविहीन अथवा रसविहीन चित्रित नहीं किया है।⁽¹³⁾ भारतीय चित्रण रेखा प्रधान होते हुये भी रंग योजना की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। श्री विश्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार चित्रण में रंग योजना का प्राविधान दिखलाई पड़ता है। चित्रकार ने बड़ी कुशलता से सभी रंगों के माध्यम से रस और भाव को चित्रण में प्रस्तुत किया है।⁽¹⁴⁾ मानसोल्लास में रस के चित्रण में वर्ण का जो महत्वपूर्ण स्थान बतलाया गया है, उसे ही यथासंभव अपनाया गया है। चित्रण में कथा प्रसंग को अधिक सजीव बनाने के उद्देश्य से अतिरिक्त प्रक्षेपण को अधिक महत्व दिया गया है। यह रंग प्राविधान भारतीय कला के शङ्ख के वर्णिकाभंग के अनुकूल दिखलाई पड़ता है।

चित्र रेखा और वर्णों (रंगों) की संगति से उत्पन्न होता है।⁽¹⁵⁾ उसके आस्वादन का माध्यम “दृश्य” अथवा “स्थानिक” है।⁽¹⁶⁾ स्थानिक होने के कारण चित्र में गति उत्पन्न करने तथा ओज, माधुर्य और कान्ति (लावण्य) आदि गुणों की अभिव्यक्ति के लिये, रेखा की गति आरोह-अवरोह तथा वर्णों में छाया प्रकाश, घनत्व तथा विरलता आदि कौशल से चित्र में रस स्थिति, रस-अभिव्यक्ति और रस-निष्पत्ति को प्रस्तुत करते हैं। दृष्टि चित्र से दूर कल्पना लोकों में जाती है, किन्तु पुनः आकृष्ट होकर रेखा और रंगों की संगति का आह्वान करने लगती है। ये आकर्षक रेखायें पुनः-पुनः संकेतों के बल से दृष्टि को कल्पना के लोक से दूर कर देती है। यह सब आकर्षण-विकर्षण ही चित्र सौन्दर्य से उत्पन्न “रस” का रहस्य है,⁽¹⁷⁾ क्योंकि कला और साहित्य दोनों में समान भाव का योजक तत्व “रस” ही है।⁽¹⁸⁾ रंग, रेखा, स्वर, शब्द, अंगहार या कोई भी सांसारिक पदार्थ कलाकार के मनोभावों की आकृति ग्रहण कर सकते हैं। कलाकार अपने कला चातुर्य से निर्जीव वस्तु को भी सजीव बना देता है।⁽¹⁹⁾ वह उसमें जीवन का रसानन्द, गति और उत्साह समाहित कर देता है। कला-सृजन की यह प्रक्रिया बड़ी ही अद्भुत और विचित्र है। कला सृजन मनन के लिये योग्य विशय है और कला मीमांसा का अंग है, जिसके आधार पर भाव अन्तर्निहित रहता है— स्थायी भाव और संचारी भाव। स्थायी भाव अपना स्थान एक स्थायी रूप में बना लेता है, जबकि संचारी भाव अस्थिर रहकर संचरणशील रहा करते हैं। यही आगे चलकर अभिव्यक्तिकरण के मूल कारक बनते हैं।

सन्दर्भ

1. डॉ. ज्ञान प्रकाश सोती — प्राचीन भारतीय चित्रकला में अभिव्यक्तिकरण — एक अध्ययन, शोध प्रबन्ध, कानपुर वि०वि० कानपुर, पृष्ठ — 89
2. डॉ० श्रीमती अनुज गुप्ता — अजन्ता तथा बाघ चित्रण के भावपक्ष का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ — 54
3. ए० घोष — अजन्ता मुरेलस, पृष्ठ — 11
4. डॉ० रायकुण्डा दास — भारत की चित्रकला, पृष्ठ — 14
5. श्रीविष्णु धर्मोत्तर — चित्रसूत्र : (3/35/7)
6. डॉ० मदनजीत सिंह — केव पेन्टिंग ऑफ अजन्ता, पृष्ठ — 11

7. एस0एन0 घोषाल शास्त्री – ऐलिमेन्ट्स ऑफ इण्डियन ऐस्थेटिक्स, वॉल्यूम – 2
8. “रेखा च बर्तना चेव भूषणं वर्णमेवच ।
विज्ञेया मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ।।”
– श्री विष्णु धर्मोत्तर पुराण, चित्रसूत्र, 3/41/10
9. एस0एन0 दास गुप्ता – फन्डामेण्टल्स ऑफ इण्डियन आर्ट, पृष्ठ – 23
10. श्री विष्णु धर्मोत्तर पुराण, चित्रसूत्र, 3/41/10
11. लारेन्स बिनयन – एशियाटिक आर्टस् (स्कल्पचर एण्ड पेन्टिंग) पृष्ठ – 17
12. डॉ0 कुमार विमल – सौन्दर्य शास्त्र के तत्त्व, पृष्ठ – 62
13. बी0एन0 गोस्वामी – एसेन्स ऑफ इण्डियन आर्ट, पृष्ठ – 4
14. मानसोल्लास – 3/942
15. बी0एन0 गोस्वामी, एसेन्स ऑफ इण्डियन आर्ट, पृष्ठ – 19
16. डॉ0 डी0 एन0 शुक्ला – शिल्पशास्त्र, पृष्ठ – 117
17. डॉ0 अशोक मित्रा – पेनोरमा ऑफ इण्डियन पेन्टिंग, पृष्ठ – 9
18. डॉ0 टी0पी0 भट्टाचार्य, केनन्स ऑफ इण्डियन आर्ट, पृष्ठ – 51
19. डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल – भारतीय कला का अनुशीलन, पृष्ठ – 419

लुप्त होती 'सहरिया' लोककला (ग्वालियर)

नीतू सिंह राजपूत*

सहरिया मध्यप्रदेश की उन जनजातियों में से एक हैं, जो विकास की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ी और अपनी आदिमता की अन्तिम पहचान की स्थिति में हैं। सामाजिक बदलाव, शहरी सभ्यता तथा भौतिक साधनों के तीव्र आक्रमण के कारण सहरिया समाज की आदिम पहचान प्रायः लुप्त हो गई है। हम सहरियाओं की कला—संस्कृति और इतिहास के पृष्ठों को नहीं देख पाये, अब जो भी सहरियों के जीवन—अक्षर बचे हैं वे विगत की धुंधली यादें हैं। आज उन्हें संजोना महत्वपूर्ण कार्य हो सकता है।¹

मध्यप्रदेश में अनेक प्रकार की लोक कलाएँ प्राचीन समय से चली आ रही हैं। इसके हर प्रांत में जो लोक कलाएँ हैं, वह कहीं न कहीं आपस में मिलती हुई हैं। खाना, रहना, पहनावा, रीति—रिवाज, संस्कार बहुत कुछ एक जैसे हैं। थोड़ी—थोड़ी दूरी पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थिति अनुसार बदलाव आ जाता है। लोक कलाकारों द्वारा रंगों से देवी—देवता, पौराणिक कथाओं, संस्कार, पशु—पक्षियों, धार्मिक प्रतीक चिन्हों को बनाना, एक प्रकार से बुरी आत्माओं, प्रेत आत्माओं को अपनी कल्पना को साकार रूप से दूर भगाने हेतु प्रयास रहा है तथा साथ ही अपने घर को सजाने हेतु आवश्यक भाग भी है।²

मध्यप्रदेश में सहरिया समाज इक्कीस जिलों में फैले हुए हैं। वर्तमान में ग्वालियर, गुना, मुरैना, शिवपुरी और राजस्थान के कोटा, शाहबाद, किशनगंज क्षेत्र में सहरिया मुख्य रूप से उत्तर—पश्चिम अंचल में बसे हैं। खासकर गुना, ग्वालियर, शिवपुरी, भिण्ड, मुरैना, विदिशा, रायसेन और बुन्देलखण्ड में सहरियाओं का निवास स्थान है। ग्वालियर संभाग में सहरियाओं का घनत्व सबसे अधिक है। इस समय ग्वालियर संभाग में सहरिया ढाना की तरह पृथक समूह बनाकर रहना पसन्द करते हैं। सहरिया परम्परागत रूप से समूहों के मकान बनाकर रहना पसन्द करते हैं।³

पहले के समय के लोग एक ही स्थान पर रहते थे शनैः—शनैः परिवार बढ़ते गये, लोग थोड़ा अलग—अलग रहने लगे। हमारी संस्कृति में शहर और देहात (गांव) का आपस में सम्बन्ध है। शहर देहात की अपेक्षा ज्यादा विकसित और सुख सुविधा सम्पन्न शुरु से ही रहा है तथा गांव उसकी दृष्टि से पिछड़ा रहता है। जो लोग शहर में रहते हैं, उनको प्रचलित भाषा में 'शहरी' कहते हैं। तथा जो लोग गांव में रहते हैं उनको 'देहाती' कहते हैं। इसी प्रकार जो लोग देहात से शहर की ओर अग्रसर होने लगे उनको देहात के लोग प्रचलित भाषा में सहरिया कहने लगे। यह सभी एक साथ समूह के रूप में रहने के कारण अपनी कलाकारी, कार्य कौशलता से पहचान बनाने में सफल रहे। सहरिया जनजाति ग्वालियर के द्वारा विभिन्न प्रकार की सतहों पर निपुणता से कार्य किया है। लकड़ी पर खुदाई, खिलौने, ओखली, मूसल, मिट्टी के निर्मित दीयों पर रंग व सज्जा, हाथ के बने पंखे इत्यादि। कृपया देखें चित्र क्र. 3 दीवार पर गोबर, भूसा मिट्टी के उभारदार कलाकृतियाँ, भित्ति चित्र, पकी हुई मिट्टी के आभूषण मटका, गमला, अनाज भरने के बड़े बर्तन, बच्चों के खिलौने कपड़े पर

* शोध छात्रा, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

छापे का कार्य, ब्रश (कलम) के द्वारा कपड़े पर चित्रकारी, कृपया देखें चित्र क्र. 2 चर्म शिल्प का कार्य, जूट पत्तियां इत्यादी से चटाई, रस्सियां तथा धातु के औजार, आभूषण, घरेलू उपयोग की वस्तुयें, हथियार इत्यादि। घर का आंगन, पूजा का आला, चौक, चौखट इत्यादि में सूखे तथा गीले रंगों द्वारा रंगोली मांढ़ना इत्यादि उक्त कार्यों में विशेष निपुणता रही है। घर में अनाज भरने के लिये मिट्टी की बड़ी-बड़ी कोठी (पेड़) प्रत्येक घर में होती है, कृपया देखें चित्र क्र. 1 जिस पर सहरिया महिलायें मिट्टी की बारीक बारीक रेखाओं से फूल-पत्ते, मनुष्य, पशु-पक्षी की आकृतियां उकेर देती हैं। कोठी बनाते समय किया गया अलंकरण घर में हमेशा ही रहता है। और आने-जाने वाले का ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहता। सहरिया महिलाएं घर की दीवारों को पीली छुही, गेरू, मिट्टी या चूने से पोत देती हैं। लिपे-पुते आंगन में माँढ़ने और दीवारों पर मिट्टी चित्र अवसर के अनुसार बनाने में सहरिया महिलायें अत्यन्त कुशल होती हैं।⁴

मानव सभ्यताएँ जहां पर भी विकसित हुई हैं, वह किसी न किसी जल स्रोत के पास हुई हैं। ग्रामीण परिवेश में मौखिक रूप से जो परम्परायें प्रचलित होती हैं एक तरफ वह मानव इतिहास तथा दूसरी तरफ वह अत्यन्त भावुक, सरल और कलात्मक होती हैं, इन्हीं कारणों से सम्भवतः यह परम्परायें आकर्षक का विषय बनी, परम्परागत विश्वास, आस्थाओं, धारणाओं रहस्यात्मक संकेत, अतीत की प्रेरणा, रीति-रिवाज तथा धार्मिक जैसे महत्वपूर्ण विषयों से जुड़ी होने के कारण इस कला को लोकवार्ता का नाम दिया गया, जो आगे चलकर लोककला के नाम से पहचाना गया है। प्रथम ऋतु संबंधी जैसे- करवा चौथ, अहोई अष्टमी, देवउत्थान, एकादशी रक्षाबंधन, दीपावली। द्वितीय संस्कार संबंधी जैसे- जन्म, मृत्यु, विवाह आदि रहा है। यह प्रदेश में कहीं अधिक तो कहीं कम रहा है।⁵

ग्वालियर संभाग के सहरियों पर राजस्थानी संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव है। ग्वालियर गजेटियर के अनुसार-सहरिया विभिन्न नामों से भवानी की पूजा करते हैं तथा सवरों सहरिया जनजाति में स्थानीय हिन्दुओं में बोली जाने वाली बोली का प्रचलन है।⁶ ग्वालियर क्षेत्र में अधिकतर सहरिया ग्राम 'मढ़ा' में समूह बनाकर निवास करते हैं।

ग्वालियर की विश्व प्रसिद्ध सहरिया जनजाति की कार्यशैली सशक्त प्रभावशाली दर्शाने वाली रही है, इनकी विषय वस्तु अविस्मरणीय रही है। इनकी कला में मुख्यतः जो कृतियाँ देखने में आती हैं, उनमें पेड़ और बंदर, मुर्गा, कुत्ता, बिल्लियाँ, चिड़ियाँ, सुअर, नाग (सर्प) पुरुष एवं महिलाएं, वाध्य बजाते हुए पुरुष तथा महिलायें, सूर्य, चन्द्रमा, सितारे, मछलियाँ, घोड़े, देवी-देवता, शेर तथा धार्मिक प्रतीक चिन्ह इत्यादि रहे हैं। लेकिन ग्वालियर की सहरिया जनजाति के कलाकारों के द्वारा एक बात विशेष रूप से देखने में आई है, जो विश्व में किसी भी लोक कला में देखने को नहीं मिलती है। सहरिया जनजाति, ग्वालियर के कलाकारों के द्वारा इस कला में कहीं भी जानवर की बलि देना, मदिरा, ताड़ी, तम्बाखू, बीड़ी, सिगरेट सेवन ताश, चौपड़, जुआ-खेलना, लड़ाई-झगड़ा, जानवरों का शिकार जैसे विषयों में किसी भी प्रकार का कोई भी चित्रण देखने को नहीं मिलता है। यह एक बहुत बड़ी बात है इससे यह पता चलता है कि ग्वालियर के सहरिया जनजाति के कलाकार कितने आदर्शवादी रहे हैं।⁷

ग्वालियर की सहरिया जनजाति के कलाकारों द्वारा रंगों के माध्यम से किया गया कार्य पूर्ण रूप से इतना वास्तविक रहा, जो कि वनस्पति और खनिज लवण से मिश्रित ही रहा

है, इनका प्रथक-प्रथक तथा मिश्रण बहुत ही सफलता के साथ हुआ है। नौसादर, फिटकरी, सुहागा, नीलाथोथा, इमली, बहेडा, हरड़, गुड़, फल-फूल पत्तियां, पेड़ों की छाल, जड़ तथा धातु लोहे के द्वारा भी रंगों में मिश्रण कर उभारदार चित्रकारी तथा पक्षियों की बीट से कपड़ों पर चित्रकारी विश्व प्रसिद्ध रही है, जो अन्य किसी जगह की लोककला में देखने को उपलब्ध नहीं रही है।⁹

वर्तमान में ग्वालियर नगर के कपड़ा व्यवसायी हरीश धवन ग्वालियर चंबल संभाग की लुप्त होती सहरिया लोककला को प्रोत्साहित करने के लिये प्रयास कर रहे हैं। इसके लिये हरीश धवन टी-शर्ट, टेबल कवर, सेंट्रल टेबल और साडी जैसे कॉटन फैब्रिक पर बेजीटवेल रंगों से पेंटिंग करते हैं। इसमें वह मोर, कृपया देखें चित्र क्र. 4 बतख और फलों को मुख्य तौर पर सृजित करते हैं। इन पेंटिंग को हैंडी क्राफ्ट मेले में लोकल आर्ट के बारे में डिस्पले करके लोगों को सहरिया आर्ट के बारे में जानकारी देते हैं। इन्होंने 22-23 वर्ष ग्वालियर के सहरिया कलाकारों से इस कला को सीखा है। इसके साथ ही राष्ट्रीय स्तर पर होने वाली कॉन्फ्रेंस और सेमिनार में शामिल होकर इस कला को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाने की कोशिश कर रहे हैं।⁹

जनजातियों में लोक संस्कृति की अनूठी छाप पाई जाती है। ग्वालियर की सहरिया जनजाति की लोककला अपने आप में विशिष्टता लिये हुए है। इसकी कला में जो विषय वस्तु है वह विश्व की किसी भी लोककला में देखने को उपलब्ध नहीं है। आज इस जनजाति के महान कलाकार कार्य अभाव के कारण अन्य कार्यों में व्यस्त हो गये हैं। म.प्र. की लगभग विलुप्त हो चुकी सहरिया लोककला को पुनः जीवनदान की आवश्यकता है।¹⁰

संदर्भ

1. निरगुणे बसन्त-‘सम्पदा’-म.प्र. की जनजातीय सांस्कृतिक परम्परा का साक्ष्य, प्रकाशक, आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, म.प्र. संस्कृति परिषद् भोपाल, प्रकाशन वर्ष 2010 तृतीय संस्करण पृष्ठ 505
2. लेखिका के शोध सर्वेक्षण अनुभव द्वारा
3. उपरोक्त - ‘सम्पदा’ पृष्ठ 516, 518
4. लेखिका के शोध सर्वेक्षण अनुभव द्वारा
दृष्टव्य- कृपया देखें चित्र क्र. 1 मिट्टी की कलात्मक ‘कोठी’।
कृपया देखें चित्र क्र. 2 ब्रश द्वारा कपड़े पर चित्रकारी ‘मोर’।
कृपया देखें चित्र क्र. 3 हस्त निर्मित काष्ठ के पंखे।
5. लेखिका के शोध सर्वेक्षण अनुभव द्वारा
6. उपरोक्त ‘सम्पदा’ पृष्ठ 542, 547, 551
7. शोध सर्वेक्षण दौरान, सहरिया जनजाति, ग्वालियर के कलाकारों द्वारा प्राप्त जानकारी।
8. ग्वालियर के सहरिया जनजाति, कलाकारों से प्राप्त जानकारी तथा सहरिया लोक कला में निपुण, कपड़ा व्यवसायी - हरीश धवन द्वारा साभार प्राप्त जानकारी।
9. दैनिक समाचार पत्र - दैनिक भास्कर (सिटी भास्कर) दिनांक 04.09.2014 के प्रकाशित लेख के मुख्य अंशों द्वारा जानकारी
दृष्टव्य - कृपया देखें चित्र क्र. 4, हरीश धवन द्वारा सृजित सहरिया कलाकृति ‘मोर’
10. लेखिका के स्वयं अनुभव अनुसार

हिमवन्त के कवि चन्द्रकुँवर बर्त्वाल के काव्य पर महाकवि कालिदास का प्रभाव

डॉ. पुष्पा खण्डूड़ी*

हिमवन्त के कवि चन्द्रकुँवर बर्त्वाल हिन्दी के सशक्त कवि हैं। हिमवन्त प्रदेश स्वच्छ, शीतल, पावन और प्रेरक—प्रकृति का अकूत—भंडार है। यहाँ गति में ऋजुता किंतु हृदय में सरलता व्याप्त है। हिन्दी के इस ऊर्जस्वित कवि की ऊर्जा का अक्षय भंडार कहीं न कहीं महाकवि कालिदास रूपी सूर्य से भी ऊर्जा ग्रहण कर रहा है। अपनी कविता 'कालिदास के प्रति' जो उन्होंने 06 अप्रैल सन् 1938 लिखी थी में वे कालिदास का प्रभाव स्वयं स्वीकारते हुए लिखते हैं कि —

कालिदास के प्रति
कालिदास,
ओ कालिदास
यदि तुम मेरे साथ न होते
तो जाने क्या होता।
तुमने मुझे आँखें दी
प्रकृति को मैं देखता था
हृदय से उसे प्रेम करता था
लेकिन मेरा सुख
मेरे साथ कुम्हला जाता था।
तुमने मेरे फूलों को गंध देकर
अचानक खिला दिया है।
हे मलय पवन
मैं तुम्हारा अनुचर हूँ
एक लघु फूल हूँ
जिसको तुम्हारे हाथों
खिलने का अवसर मिला।(1)

चन्द्रकुँवर बर्त्वाल के काव्य में न केवल संस्कृत के महाकवि कालिदास का प्रभाव है अपितु संस्कृत के भवभूति, अंग्रेजी के टेनीसन, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, शेक्सपीयर आदि का भी प्रभाव दिखाई देता है। उनके काव्य पर विविध दर्शनों का भी प्रभाव है जो उनकी बहुविज्ञता का प्रमाण है। भारतीय अद्वैतवाद, रहस्यवाद, वेदान्त, कठोपनिषद्, अरविन्द एवं रवीन्द्र दर्शन के अतिरिक्त हमें उनके काव्य पर पाश्चात्य रोमांटिसिज्म एवं मार्क्सवाद आदि का भी प्रभाव दिखाई देता है। उनके विषय में प्रसिद्ध विद्वान और कविवर के मित्र शंभुप्रसाद बहुगुणा जी का कहना है कि— अंग्रेजी कवि टेनीसन के लिए जैसा कहा जाता है कि वह साधारण

* एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिन्दी, डी.ए.वी. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देहरादून।

उपकरणों से भी असाधारण प्रभाव उत्पन्न करने में सफल होता था — 'He could give large effects with meager facts' ठीक यही बात चन्द्रकुँवर पर भी लागू हो सकती है — “बिखरा जटा खड़ा वह तापस युग—युग से पर्वत के ऊपर... प्रकृति के सौन्दर्य को, पृथ्वी के फूलों को, भ्रमरों को, विहगों के स्वरों को, नदियों के मौन—संगीत को इतनी तन्मयता से प्यार करने वाला कवि संस्कृत साहित्य में कालिदास और भवभूति के रूप में मिल सकता है, अंग्रेजी साहित्य में टेनीसन, कीट्स, वर्ड्सवर्थ के रूप में पाया जा सकता है ... चन्द्रकुँवर ने कभी स्नेहमयी प्रकृति को निष्प्राण अनुभव किया हो ऐसा हमें याद नहीं। माँ की वात्सल्य शीतल गोद में लेटे हुए कवि ने सदा ही उसके समीपस्थ हृदय के स्पन्दन को साफ—साफ सुना है।” (2)

उमाशंकर सतीश ने उनकी कविताओं में व्याप्त सजीव प्रकृति चित्रण के विषय में लिखा है कि “प्रकृति के अनूठे और बेजोड़ दृश्यों की श्रेणी में कवि के जीवंत शाश्वत प्रकृति चित्र, जो पर्वतीय जीवन के अत्यन्त निकट हैं, आधुनिक हिन्दी कविता को समृद्धि की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान है। ... ‘जीतू’ आदि कविताएं तरल मानवीय संवेदनाओं के भी द्योतक हैं। चन्द्रकुँवर की प्रकृति संबंधी सभी कविताएँ मधुर कोमल शीतल चन्द्रिका से पूर्ण तो है ही साथ ही उनमें जनजीवन की कसक भी अभिव्यंजित हुई है.... प्रकृति की सुन्दरता से आधुनिक हिन्दी कविता का अभिषेक करने वाले कवियों में से एक है चन्द्रकुँवर।” (3)

निम्न पंक्तियों में कविवर चन्द्रकुँवर बर्त्वाल के प्रकृति—चित्रण की बारीकियाँ स्पष्ट उजागर होती दिखाई देंगी —

अब छाया में गुंजन होगा
वन में फूल खिलेंगे
दिशा—दिशा में अब सौरभ के
धूमिल मेघ उठेंगे।
अब रसाल की मंजरियों पर
पिक के गीत झरेंगे
रोवगी रवि के चुंबन से
अब सानंद हिमानी,
गूँज उठेगी अब गिरी—गिरी के
उर से उन्मद वाणी।
हिम का हास उड़ेगा, सुरध्वनि
लहरों के ऊपर। (4)

हिमालय से उद्धृत गंगा भी कविवर बर्त्वाल को शंकर की स्मिति सी दिखाई देती है—

शंकर के अधरों की स्मिति सी,
मानस के आह्लाद हँसी सी
यह पावन हिम गौर कमारी
यह ऊधा गिरिश्रृंग वासिनी (5)

कालिदास के मेघदूत का मेघ तो हिमवन्त कवि बर्त्वाल के काव्य में भिन्न—भिन्न स्वरूपों में भिन्न भावों के साथ बार—बार अवतार हुआ है। 'मेघमुक्ता', मेघकृपा, मेघ लोचन, मेघ नन्दिनी, वर्षा आगमन, पावस मास, उस दिन के बादल, हिमवन्त, हिमश्रृंग, हिमप्रात, हिम छाया आदि अनके कविताओं में कविवर का मेघ भी जड़ और तटस्थ न होकर कालिदास के मेघ सदृश मानवीय संचेतना के स्फुरण से संयुक्त है। 'मेघदूत' में एक स्थान पर कालिदास ने पर्वत को मेघ सखा बताते हुए लिखा है कि पर्वत अपने सखा मेघ से मिलकर हर्ष से गर्म आँसू बहाता है —

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेह व्यक्ति शिचर विरहजं मुंचतो वाष्पं उष्णम् ।(6)

यही भाव यथावत् हमें हिमवन्त कवि चन्द्रकुँवर बर्त्वाल की कविता 'हिमछाया' की निम्न पंक्तियों में भी दिखाई देता है। जिसमें पर्वत दौड़ते हुए मेघों को अपनी दृढ़ भुजाओं में भर लेता है —

पड़ी देश पर मेरे हरित तुम्हारी छाया
मेरे विपिनों में उज्ज्वल गर्जन कर साया
ह्रास तुम्हारा, स्नेह तुम्हारा, हृदय तुम्हारा।
मेरी धरती को प्यासी ही छोड़ गगन में।
दौड़ रहे मेघों को तुमने दृढ़ हाथों से
रोक, सहस्र मधुर स्वरों में, अमृत स्वर उनका
शुष्क हृदय पर मेरी धरती के बरसाया ।(7)

कालिदास के समान ही 'बर्त्वाल' में भी मेघों के मानवीकरण की सुन्दर परम्परा हमें अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है।

राजहँस सा स्वच्छ कलेवर, हँसी भरे पर फैला सुन्दर,
उड़ता नील, नील गिरी तट पर, मंद मंद बादल का बालक
गौरवपूर्ण गंगा तरंग सा देहहीन शोभन अनंग सा
शब्दहीन, चिरमौन चन्द्र सा मंद मंद उड़ता शिशु बादल।
ग ग ग ग ग ग ग ग ग
सोह रहा बादल के मुख पर
रंग बिरंगा तूर्य मनोहर,
पीछे से रथ चक्र घर्घरित,
उमड़ आ रही घटा, घन, अमित ।(8)
'विद्युद्वाम स्फुरित चकितैस्तत्र पौरांडनानाम्' (9)

अर्थात् उन नगर सुन्द्रियों के नेत्र में विद्युत की सी चमक थी। कालिदास के मेघदूत की इन पंक्तियों का भाव साम्य भी हमें कविवर बर्त्वाल की 'बादल और वर्षा' नामक कविता में हमें यथावत् दिखाई देता है —

हे घन—वसने, विद्युत हासिनी, नृत्य चंचले, नुपुर रणिते
आद्र अँचले, तरल लोचने, हे झन झन स्वन मृदंग ध्वनिते
सुधर अपसरे, मनोहारिणी, हे सलाज कोमल पद चारिणी
देख रूप घनश्याम मनोहर, त्रिभुवन चकित, पयोनिधि चंचल(10)।

हिमवन्त के कवि चन्द्रकुँवर बर्त्वाल के काव्य में व्याप्त ध्वन्यात्मकता एवं बेजोड़ व्यंजना शक्ति भी कदाचित् कालिदास से प्रेरणा का ही प्रतिफल प्रतीत होती है। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के तृतीय अंक में शकुन्तला को अपनी सखियों के बीच बैठा देखकर दुःशयन्त के मुख से अनायास ही निकला एक वाक्य — 'अये लब्धं नेत्र निर्वाणाम्' अर्थात् 'अहा, मैंने नेत्र तृप्ति पाली' शकुन्तला के अतिशय रूप की व्यंजना के लिए पर्याप्त है। इसी प्रकार की रूपाभिव्यंजना हमें हिमवन्त कवि बर्त्वाल के काव्य में भी स्थान—स्थान पर दिखाई देती है। 'माधवी के गीत' कविता की निम्न पंक्तियों में कविवर बर्त्वाल ने भी इसी प्रकार की रूप की व्यंजना की है—

वह छवि शशि के शीत—चूर्ण से
पुष्पों के सौरभ से
बनी हुई शत—शत सपनों के
निद्रित, पुलकित रव से
कब देखेंगे दृग उस छवि को
जीवन पथ पर रुककर
कब जीवन को सिक्त करेगी
क्षुधा सुधा की हँसकर।(11)

कालिदास के काव्य में अलंकारों का यथा स्थान समुचित प्रयोग हुआ। उपमा कालिदास का तो कहना ही क्या है। चन्द्रकुँवर बर्त्वाल के काव्य में व्याप्त उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की तुलना मात्र कालिदास के अतिरिक्त और किसी से नहीं की जा सकती है। उनकी 'प्रिय चन्द्रिके' कविता में 'मलिन चाँदनी' की उपमा धरती पर फैले दुखों की छाँह से करना अपने आप में एक विलक्षण कल्पना है —

तुम मलिन क्यों हो गई प्रिय चन्द्रिके
ग ग ग ग ग ग ग
गा रहे अब खग हृदय—तल चीर के।
पहिन धूमिल वस्त्र, नयनों को भरे
करुण हाथों में पतित पल्लव धरे
फैल धरती पर दुखों की छाँह सी
सोचती तुम क्या अकेले चन्द्रिके?
तुम मलिन क्यों हो गई प्रिय चन्द्रिके।(12)

जीवन की क्षण भंगुरता तथा सुख—दुःखात्मक दृष्टिकोण भी कालिदास के दर्शन के प्रभाव स्वरूप चन्द्रकुँवर बर्त्वाल के काव्य में भी दिखाई देता है। मेघदूत में यक्ष अपनी

प्रियतमा को दुःख-सुख की अनिवार्यता पर समझते हुए कहता है— ‘कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा । नी चैर्गच्छ त्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण’ (13) अर्थात् संसार में कोई भी ऐसा नहीं है जिसे मात्र सुख ही अथवा दुःख ही मिलता है । सुख-दुखात्मक इस संसार में चक्र की तरह सुख-दुख आते जाते हैं । कविवर चन्द्रकुँवर बर्त्वाल की कविता ‘जीवन सुन्दर’ में भी यही दर्शन दिखाई देता है । कवि कहते हैं कि जीवन यदि कष्टों से जर्जर है तो वहीं वह सुखों से भी सुन्दर है —

“कष्टों से यद्यपि जर्जर था
फिर भी वह जीवन सुन्दर था ।
निशि-दिन मेघों के भीषण स्वर
जिस नभ से आते थे भू-पर
उस नभ ही में चुपचाप कभी
शशि भी हँस जाता क्षणभर
ग ग ग ग ग ग
तीखे काँटों से बिंध बिंध कर ।
रो उठता था जब पीड़ित उर
तब एक कुसुम ही दुख सारे, हर
लेता था थोड़ा हँस कर ।” (14)

अन्यत्र ‘हाय इतना दुःखी कविता’ में भी कवि का यही सुख दुखात्मक दर्शन बोल रहा है —

“मैं कभी था सुखी
हाय उतना सुखी
आज मैं हूँ दुःखी
हाय इतना दुःखी” (15)

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि हिमवन्त के कवि चन्द्रकुँवर बर्त्वाल एवं महाकवि कालिदास के साहित्य में हमें अद्भुत समरूपता दृष्टिगत होती है । कालिदास चन्द्रकुँवर के आराध्य रहे और उपजीव्य भी । कालिदास के समान ही उन्हें भी हिमालय शंकर का राशिभूत अट्टाहास दिखाई पड़ता है तो निर्बाध रूप से पर्वत श्रृंगों पर आवाजाही करते घन प्राणभूत । तभी वे लिखते हैं —

मैंने देखा, थे महादेव बैठे
हिमगिरी परदूर्वा पर
डमरू था मौन, गढ़ा भूमि पर
चमक रहा उज्ज्वल त्रिशूल ।
सहसा आई गिरिजा, बोली —
मैं लाई नाथ अमूल्य भेंट
हँसकर देखे शंकर ने
वे राईमास के दिव्य फूल (16)

सन्दर्भ

1. चन्द्रकुँवर बर्त्वाल का कविता संसार : सम्पादक डॉ. उमाशंकर सतीश, पृष्ठ-96
2. चन्द्रकुँवर काव्य संहिता : श्रीकंठ, पृष्ठ-28
3. वही - पृष्ठ - 28
4. चन्द्रकुँवर बर्त्वाल का कविता संसार : सम्पादक डॉ. उमाशंकर सतीश, पृष्ठ-21-22
5. चन्द्रकुँवर (काव्य प्रसंग और काव्य संहिता-श्रीकंठ) पृष्ठ - 20
6. मेघदूत (पूर्व मेघ - 12)
7. चन्द्रकुँवर बर्त्वाल की कविताएँ - भाग-एक, पृष्ठ-70
8. चन्द्रकुँवर (काव्य प्रसंग और काव्य संहिता), पृष्ठ - 26
9. मेघदूत (पूर्वमेघ) श्लोक संख्या - 28
10. चन्द्रकुँवर बर्त्वाल की कविताएँ - पृष्ठ-23
11. चन्द्रकुँवर बर्त्वाल का कविता संसार : सम्पादक डॉ. उमाशंकर सतीश, पृष्ठ-23
12. वही पृष्ठ - 71
13. मेघदूत (उत्तरमेघ) - पृष्ठ-52
14. चन्द्रकुँवर बर्त्वाल की कविताएँ- भाग-एक, डॉ. उमाशंकर सतीश, पृष्ठ-172 'B'-202
15. वही पृष्ठ-202
16. वही पृष्ठ - 71

कला, जीवन और नैतिकता

डा. सोनु द्विवेदी, शिवानी*

कला मानव जीवन का आधार है, तो नैतिकता मानव जीवन की सार्थकता का मापदण्ड माना जाता है। कला और नैतिकता दोनों की ही उत्पत्ति सामाजिक स्थितियों—परिस्थितियों अथवा वस्तुओं की वर्तमान अवस्था के प्रति अपूर्णता के बोध से होती है। नैतिकता उन वस्तुओं स्थितियों की अवस्था में परिवर्तन करके उन अपूर्णताओं को दूर करने का प्रयत्न करती है। वहीं ओर दूसरी कला यह मानकर चलती है कि, अपूर्णता अथवा असद भी जीवन का एक तथ्य है, इसलिए वह उन्हें भी सजाती और संवारती है। रंगों से आभूषणों से, वस्त्रों से, रंगों से, कविताओं से, लयों से, छंदों आदि के सुन्दर संयोजन करके। जीवन में जहाँ—जहाँ असुन्दर है, कला उन सब में सुन्दर का निर्माण करती है। कला जीवन की ऐसी समस्त अभद्रताओं को ढकने का प्रयास करती है, जो अप्रीतिकर हो सकती थी। इस तरह कला और नैतिकता दोनों को ही जीवन और समाज की अपूर्णताओं एवं अभद्रताओं से सहज और सुन्दर बनाना होता है। कला जहाँ मानव जीवन में एक प्रिय और दर्शनीय वातावरण का निर्माण करती है तो वहीं नैतिकता अनुभूतिपूर्ण सौहार्द का सौंदर्य बिखेरती है।

कला, जीवन और नैतिकता के संबंधों को लेकर समय—समय पर अनेको बहस और विवाद उठते रहें हैं। कुछ समीक्षकों के अनुसार नैतिकता के साथ कला का कोई सरोकार नहीं है तथा कला नैतिकता के प्रति निरपेक्ष ही रहती है। परन्तु यदि ऐसा है तो कला जीवन से परे एक मानवीय मूल्य रहित क्रिया होगी और मूल्यों के अभाव में कला की सम्प्रेषणीयता के गुणों का मानव जीवन और समाज में कोई महत्व नहीं होगा, क्योंकि मूल्यों का क्षरण तो मानवता का पतन है— इससे हम इंकार नहीं कर सकते हैं। “विद्वान आई.ए. रिचर्ड्स, जान ड्यूई आदि कई विचारकों का मानना है कि, कला—मूल्य और नीति मूल्य में कोई भेद नहीं है। उनके अनुसार कलाकृति के सुंदर होने में और उसके शुभ या शिव होने में तत्त्वतः कुछ भी अंतर नहीं है, किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कला उपदेश परक होती है या होनी चाहिए नीतिपूर्ण तत्वों के पालन से, जो अमूल्य अनुभव सम्पन्न जीवन प्राप्त होता है वहीं एक उपदेश युक्त कलाकृति से मिलता है”। (1) रिचर्ड्स से ही मेल खाते स्वर जॉन ड्यूई का भी है, उनके शब्दों में पर्वत शिखर और तलहटी की जमीन में जो रिश्ता होता है, वहीं कला जीवन और नैतिकता में है।

कला का जीवन के साथ तो प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखायी देता है, किन्तु नैतिकता के साथ कोई सीधा प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, फिर भी यह प्रमाणित सत्य है कि—“कला मानवीय व्यक्तित्व को परोक्ष रूप प्रभावित करती है, सीधे—सीधे उपदेश नहीं देती है। कला का बुनियादी उद्देश्य मनुष्य को समस्त द्वंदों से ऊपर उठाकर उसके लिए अद्वितीय आनंदानुभूति प्रदान करना भर होता है”। (2) “साहित्य एवं कला रूप पाठन एवं दर्शन के माध्यम से हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें उपर उठा कर सामान्य मनुष्यता के साथ एक होने का अनुभव कराये वहीं रचना की उपादेयता है, उसके भाव पक्ष के लिए किसी देश विशेष या काल विशेष की नैतिक आचार परंपरा का होना आवश्यक नहीं है”। (3)

* Asst. Prof. (D&P)/Co-ordinator, Faculty of Visual Art Kumaun University. Nanital S.S.J. Campus Almora

मनुष्य के अंदर अगर विकसित कल्पना शक्ति हो तो दुनिया में जो-जो सुंदर है उसके साथ उसका तादात्म्य हो सकता है। संघ में रहने एवं सभी से प्रेम करने की उसकी शक्ति बढ़ जाती है, फिर वह आत्म केन्द्रित नहीं रहता है, सबकी ओर से बनी दृष्टि से वह किसी भी प्रश्न की ओर देख सकता है। मनुष्य की आत्यांतिक आत्मकेन्द्रितता नष्ट होना, औरों की दृष्टि से विश्व की ओर देखने की क्षमता उत्पन्न होना, अन्य लोगों पर प्रेम करना जैसी भावनाएं नैतिकता का ही विकास है। काव्य कला नैतिकता के लिए उपयुक्त है, लेकिन वह इसलिए नहीं कि विशिष्ट नीति तत्वों का प्रसार करता है। यह उपयुक्तता अप्रत्यक्ष सहायता के रूप में होती है। काव्य कला के कारण कल्पना-शक्ति का पोषण होता है और विकसित कल्पना शक्ति के कारण नैतिकता का पोषण होता है। कला-सृजन और नैतिकता के मध्य का संबंध अप्रत्यक्ष होकर भी महत्वपूर्ण होता है। जब कला का सबसे पहला उद्देश्य ही इस तरह से अपरोक्ष रूप से अर्जित किया जाता है, तब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि, कला और नैतिकता का यह परोक्ष संबंध वस्तुतः है क्या? जिन चरित्रों या पात्रों को कला में प्रस्तुत किया जाता है, या तो उसके माध्यम से अथवा कथानक की सामान्य अर्थवत्ता के द्वारा कला जीवन से आकर ग्रहण करती है, और दर्शकों पर प्रकट विषय के अनुसार नैतिक या अनैतिक प्रभाव डालती है।

समीक्षकों का मत है कि, कला में कोई नैतिक लक्ष्य नहीं बल्कि अनिवार्य रूप से उसमें नैतिक दृष्टि होनी चाहिए तभी वह अपने वास्तविक उद्देश्य को पूरा कर सकती है। परन्तु फिर भी इसका अर्थ कला को उपदेशात्मक बनाने से नहीं है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार नैतिकता न तो कला की अंतर्वस्तु का निर्माण करती है और न ही यह उसका उद्देश्य बन पाती है। “नैतिक दृष्टि जैसी अनिवार्य आवश्यकता के कारण कलाकार पर यह अंकुश लग जाता है कि वह जीवन के उच्च पक्षों को अपनी कला के लिए चुने, अन्यथा कला न सिर्फ अपने नैतिक प्रभाव की क्षमता खो देगा, बल्कि अंत में वह चरित्र को भ्रष्ट करने और आदर्शों को पतित करने का साधन बनकर रह जायेगी”।(4)

“व्यक्ति को समाज में केवल इस बात पर अटल रहना चाहिए कि, जिसे काव्य, नाटक, उपन्यास, चित्र, मूर्ति आदि कोई भी कला कहकर उसके सामने रखा जा रहा है। वह हमें हमारी पशुवत् एवं सामान्य मनोवृत्तियों से उपर उठाकर समस्त जगत के सुख-दुख को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नहीं, हमें उस मानवीय भावों की अनुभूति में सहायता पहुंचा रहा है या नहीं, जिसे व्यक्ति ने अपने अनेक स्वार्थों के बलिदान के बाद प्राप्त किया है”।(5) अगर व्यक्ति किसी स्थिति का अनुचिंतन कर रहा है तो, वह अनुचिंतन कलात्मक अथवा सौंदर्यात्मक होने का स्थान तब प्राप्त करता है, जब वह उसके द्वारा इतना वशीभूत हो जायें कि, स्वयं अपने आप को भुल जायें हैं अर्थात् उससे एकात्म हो जायें हैं।

इस प्रकार कला और नैतिकता दोनों ही हैं तो निःस्वार्थ वृत्ति लेकिन अक्सर देखा जाता है कि दोनों ही अपने उद्देश्य के विपरीत चलने लगती हैं। जैसे नैतिकता निःस्वार्थ होने की उत्सुकता में तपश्चर्या के आदर्शों को धारण कर लेती है, जो और कुछ नहीं बल्कि स्वार्थ परकता का ही एक रूप हैं। संसार को ज्यों का त्यों छोड़कर केवल अपने-आप में डूब जाना नैतिक जीवन नहीं, बल्कि नैतिकता का निषेध हैं, क्योंकि पुनः आत्म दमन और आत्म-आसक्ति दोनों एक ही प्रवृत्ति के दो पहलु हैं— यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिस प्रकार नैतिकता के नकारात्मक हो जाने का खतरा बना रहता है उसी प्रकार कला के भी

आत्म क्रेदित हो जाने का भय रहता है। ऐसी दशा में कला लगभग असामाजिक होकर भोगवादी बन जाती है, अर्थात् कला भी कभी-कभी किसी भोगी की तरह केवल आनंद लूटने और सुख पाने की लालसा में ही विघटित हो जाने की प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होती है। यह कला के द्वारा प्रकट जीवन का अद्यःपतन ही है, इसी पतन से जीवन को बचाने हेतु अधिकतर कला को धर्म पर निर्भर रहने के लिए विवश किया जाता है। पर यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि, कला को इस तरह के विघटन से बचाने का एकमात्र आश्रय केन्द्र धर्म ही बचता है। “तपश्चर्या जिस प्रकार नैतिकता में आने के बाद स्वयं को नकारती है, वैसे ही कला भी आत्म केंद्रित होकर स्वयं को ही खंडित करती है। तपस्वी और भोगी दोनों ही अपने हितों के लिए संसार को जहाँ का तहाँ न्यायोचित नहीं रख पाता है, तो नैतिक वृत्ति की तरह कलात्मक वृत्ति को भी विशुद्ध रूप से निःस्वार्थ होना चाहिए”। (6) विद्वान टॉल्सटाय के मत में— “कला का कला के रूप में विचार करने पर भी नैतिक गुणों का पोषण ही उसके मूल्यांकन की अंतिम कसौटी है”।

अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कला मूल्य, जीवन मूल्य और नैतिक मूल्य चूंकि दोनों ही मानवीय चेतना की उपज हैं, इसलिए इन तीनों का ही संबंध अभिन्न है। विवाद की अवस्था तब उत्पन्न होती है जब नैतिकता को समाज में जीवन में प्रचलित सामान्य विधि-निषेधों तक सीमित कर दिया जाता है तथा कलाकृति को उस सीमित कसौटी पर जांचा परखा जाता है। अन्यथा कला तो विभिन्न समाज एवं संस्कृतियों के परस्पर विरोधी नैतिक मान्यताओं एवं रुढ़ियों-परम्पराओं की जकड़नता से मानवता को खींचकर उपर उठाती है। इसीलिए आज भी ग्रीस देश की मूर्तियां संसार के सभी कला पारखियों का आदर पा सकी हैं, नटराज की मूर्ति ने सम्पूर्ण विश्व में मूर्तिपूजा के विरोधियों का भी हृदय अभिभूत कर दिया। ताजमहल और कोर्णाक मंदिर दो बिल्कुल विरोधी मनोभाव से बने हुए हैं, पर संसार के पारखी उनके दर्शन मात्र से मुग्ध हो जाते हैं, और जाति-धर्म जैसी जीवन विरोधी भावनाओं से भिन्न कला सौन्दर्य में डूबकर आत्मविभोर हो जाते हैं। अंजता के मनमोहक चित्रों ने धर्म के मिथ्याभिमान का सहजता से खंडन कर के विद्वानों का सम्मान प्राप्त कर आज भी देश-विदेश के जन-समुदाय को अभिभूत कर दर्शन के लिए आने को प्रेरित करती हैं। इस तरह हम पाते हैं कि कला जीवन के साथ चलती और पलती, मानवीय चेतना से उत्पन्न होती है और नैतिकता मानवीय चेतना का एक अनिवार्य गुण है। अतः चेतना के स्तर पर आकर ये परस्पर सहयोगी होकर मानवता को सचेत करने का ही कार्य करती है, तो इस स्तर पर नैतिकता कला रूपों का अप्रत्यक्ष सहयोगी गुण रहा है और आगे भी रहेगा।

सन्दर्भ

1. 'जान ड्यूर्ट', आर्ट एज एक्सपीरियंस, पृ. 63
2. 'एम. हिरियन्ताः, कला अनुभव, पृ. 52
3. 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी', विचार प्रवाह, पृ. 139
4. 'एम. हिरियन्ताः, कला अनुभव, पृ. 53
5. 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी', विचार प्रवाह, पृ. 139
6. 'एम. हिरियन्ताः, कला अनुभव, पृ. 60

बौद्ध कला के महान् संरक्षक पाल सम्राट

भजन सिंह*

सभ्यता के पश्चात् भारतीय कला हर युग में देश में व्याप्त धर्म और संस्कृति से अनुप्रमाणित होती रही है। कला और धर्म का ऐसा ही समन्वय उत्तर मध्यकालीन कला एवं साहित्य में परिलक्षित होता है। इस समय मुख्यतः ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म प्रभावी रूप से समाज में व्याप्त रहे जिनके आधार पर सहस्रत्रों रचनाओं का सृजन हुआ है। सोमेश्वर कृत 'अभिलाषितार्थ चिन्तामणि' (मानसोल्लास)¹, सुरसुंदरीकहा (जैन रचना), तरंगवती, कर्णसुंदरी (विल्हण कवि कृत), सोमेश्वर कृत 'कथा सरित सागर', हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित', क्षेमेन्द्र कृत 'वृहत्कथा मंजरी', श्रीहर्ष कृत 'नैषधचरित', पद्मपुराण, तथा जयदेव कृत 'प्रसन्नराघव' आदि अनेकानेक ऐसे लिखित उदाहरण हैं जिनके अन्तर्गत चित्रकला सम्बन्धी रोचक कथाओं का वर्णन किया गया है।

16वीं शताब्दी में तिब्बत के प्रमुख इतिहासकार लामा तारानाथ हुए, जिन्होंने बौद्ध इतिहास का लेखन किया है। अपने इस ऐतिहासिक उल्लेख में उन्होंने भारतीय बौद्ध इतिहास पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि 7वीं शताब्दी में पश्चिमी भारत में मारवाड़ से एक चित्रशैली विकसित हुई किन्तु 9वीं शताब्दी में इससे भिन्न शैली पूर्वी भारत (बंगाल) तथा नेपाल में अवतरित हुई जिसमें पाल संवत् या पाल राजाओं का उल्लेख प्राप्त हुआ इसी कारण रायकृष्णदास ने इसे पाल शैली कहकर पुकारा। उनके अनुसार 9वीं शती से पूर्वी भारत में चित्रण-शैली के चलने का राजनीतिक तात्पर्य यही हुआ कि पालों के समाश्रय में जिस प्रकार एक मूर्ति-कला प्रचलित हुई उसी प्रकार प्रायः उसी क्षेत्र में इस चित्रकला का विकास हुआ।² बिहार से प्राप्त चित्र साक्ष्यों के आधार पर प्रसिद्ध कला समीक्षक 'हेलन रुबीसो' ने इस शैली को 'बिहार शैली' कहा।³ जबकि इस शैली से सम्बन्धित चित्रण साक्ष्य बिहार के अलावा उड़िसा, उत्तर प्रदेश, नेपाल⁴, बंगाल आदि से भी प्राप्त हुए अतः 'बिहार शैली' नामकरण सार्थक नहीं हो सका। जैसा कि यह पूर्व विधित है कि यह शैली पाल सम्राटों के संरक्षण में पल्लवित एवं पुष्पित हुई अतः रायकृष्ण दास द्वारा नामित 'पाल शैली'⁵ कहना ही उचित समझा गया।

गौतम बुद्ध का जन्म 557 ई. पूर्व माना जाता है और जब से उनके द्वारा धर्म का प्रचार-प्रसार किया जाने लगा, तत्कालीन साहित्यों में कला के विकास का भी उल्लेख प्राप्त होता है। प्रारम्भ से ही सम्राटों ने अपने राज्य में "चित्रशालाएं" व "सरस्वती भवन" जैसी कला एवं साहित्य की विधाओं को संरक्षण प्रदान किया था जिनके माध्यम से उन्होंने अपने सन्देशों व धार्मिक प्रचार-प्रसार को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य किया।

लगभग 200 ई. पूर्व तक "हीनयान" बौद्ध धर्म के अनुसार महात्मा बुद्ध के चित्र या मूर्तियों का निर्माण नहीं होता था।⁶ भगवान बुद्ध ने स्वयं भी अपने अनुयायियों को चित्रकला की ओर प्रवृत्त न होने का उपदेश दिया था। यही कारण है कि प्रारम्भिक बौद्ध कालीन चित्रों के पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध नहीं हो पाये हैं। जो कुछ साक्ष्य प्राप्त होते हैं उनका आधार

* शोधार्थी (चित्रकला), डी.एस.बी. केम्पस, कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल

तत्कालीन साहित्य ही रहा है। जिनमें चित्रकला सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त हुए हैं। प्रारम्भिक चरण में बुद्ध के अस्तित्व को दर्शाने के लिए उनके प्रतीक स्वरूप छत्र, मुकुट, चरण—पादुका, पगड़ी, बौद्ध—वृक्ष, धर्मचक्र अथवा सिंहासन आदि का अंकन ही परिलक्षित होता है। कुषाण राज्य में कनिष्क के आने पर “महायान” बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ।⁷ अब चित्रण हेतु किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रह गया था, जिसके फलस्वरूप बुद्ध के छविचित्र एवं मूर्तियाँ स्वतंत्र रूप से निर्मित की जाने लगी। इस समय भारतीय कला संस्कृति की एक नवीन चेतना जाग्रत हुई जिसके माध्यम से देश के अनेक भागों में ज्ञान और दर्शन की ज्योति प्रज्वलित होने लगी। बौद्ध धर्म का जितना प्रभाव कला के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है उतना अन्य किसी विधा पर देखने को नहीं मिलता है।

बौद्ध धर्म का प्रचार तूलिका की साधना के आधार पर ही अधिक हुआ। लेख या लेखनी का महत्व बाद में आया।⁸ जनमानस में जैसे—जैसे बौद्ध धर्म के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होने लगी धर्म प्रचारार्थ चित्रकला को सुदृढ़ माध्यम के रूप में स्थान मिलने लगा। बौद्ध अनुयायियों द्वारा बौद्ध जीवन व उनकी शिक्षाओं को पटचित्रों के माध्यम से सरलता पूर्वक विश्व के विभिन्न स्थानों तक पहुँचाया गया। जिस प्रकार भारत बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध की जन्मभूमि है उसी प्रकार यह भी निश्चित है कि भारतवर्ष धर्म से संबंधित चित्रकला का भी उद्गम स्थल है।⁹ भारतवर्ष में सहस्रत्रों गुफाओं को तराशकर बौद्ध धर्म सम्बन्धी भित्तिचित्र एवं मूर्तियों का सृजन किया गया है जो कलाकारों की दक्षता एवं समर्पण का दुर्लभ संगम है। ऐसे उदाहरण—अजन्ता, बाघ, सित्तनवासल आदि विभिन्न गुफाओं से प्राप्त हुए हैं।

पाल साम्राज्य मध्यकालीन भारत का कला संस्कृति की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण शासन रहा है। भारत का उत्तर—पूर्वी भाग जिसमें बंगाल प्रान्त प्रमुख है एक समय यह मगध साम्राज्य का हिस्सा था जो गुप्तों के अधिनस्थ था। छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह स्वतंत्र हुआ और इसने गुप्त साम्राज्य से अलग होकर अपना अस्तित्व स्थापित किया। यहाँ के सम्राट शशांक के देवंगत हो जाने के पश्चात् बंगाल प्रान्त अराजकता का शिकार हो गया। सुदृढ़ नेतृत्व न मिलने के कारण लगभग सौ वर्षों तक यहाँ की शासन व्यवस्था विश्रृंखलित रही। लगभग 730 ई. से 740 ई. के मध्य यहाँ जनता की पीड़ा इतनी बढ़ गई थी कि उन्होंने क्रान्तिकारी स्वरूप धारण कर लिया था। बुद्धिजीवियों एवं विशेषज्ञों की सहायता से जनता ने स्वविवेक से ‘गोपाल’ नामक व्यक्ति को अपने सम्राट के रूप में चुना। यह सम्राट न केवल बंगाल के लिए शान्तिदूत के रूप में अवतीर्ण हुआ अपितु पालवंश के संस्थापक के रूप में भी उसका सुदृढ़ योग रहा। गोपाल ने अपने शौर्य एवं पराक्रम से अपने साम्राज्य का विस्तार दक्षिणी बिहार तक कर लिया था।

गोपाल के पश्चात् उत्तराधिकारी के रूप में इनके पुत्र ‘धर्मपाल’ का राज्याभिषेक हुआ। धर्मपाल ने लगभग 40 वर्षों तक शासन किया। उनकी विशिष्टताओं के कारण उन्हें उस समय का ‘कल्पतरु’ माना जाता था। धर्मपाल कन्नौज के लिए त्रिदलीय संघर्ष में उलझा रहा था उसने कन्नौज की गद्दी से इंद्रायुध को हराकर चक्रायुध को आसीन किया। चक्रायुध को गद्दी पर बैठाने के बाद उसने एक भव्य दरबार का आयोजन किया तथा उत्तरापथ स्वामिन की उपाधि धारण की। उसने गंगा के किनारे ‘भागलपुर’ में ‘विक्रमशिला महाविद्यालय’ बनवाया था।¹⁰ तारानाथ के अनुसार उसके राज्य का विस्तार पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक, पश्चिम में जालंधर तक, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्यपर्वत तक था।¹¹ इसके

अलावा धर्मपाल द्वारा ओदन्तपुरी व सोमपुरी बिहारों का निर्माण और नालन्दा महाविहार का संरक्षण किया गया। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनका महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी पुत्र वेदपाल सम्राट के रूप में सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके शासनकाल में ही अरब यात्री सुलेमान आया था। सम्राट वेदपाल ने मुंगेर को अपनी राजधानी बनाया। उसने अपने साम्राज्य को पूर्वोत्तर में प्राज्योतिषपुर, उत्तर में नेपाल, पूर्वी तट पर विस्तृत किया। कन्नौज के संघर्ष में देवपाल ने भाग लिया था। उसके शासनकाल में दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ भी मैत्रीपूर्ण संबंध रहे। उसने जावा के शासक बालपुत्रदेव के आग्रह पर नालन्दा में उसे एक विहार की देखरेख के लिए 5 गाँव अनुदान में दिए। इसके साथ-साथ उसने सारनाथ, नालन्दा, गया, कुर्कीहार आदि अनेक स्थानों पर मूर्तियाँ एवं स्थापत्यों आदि का निर्माण करवाया था। इसके पश्चात् विग्रहपाल, नारायणपाल, राज्यपाल, गोपाल द्वितीय आदि सम्राट हुए। गोपाल द्वितीय के समय विक्रमशिला महाविहार में अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता¹² की पाण्डुलिपि तैयार हुई जो ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है।¹³ सन् 990 ई. में महिपाल सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित हुआ उसने अनेक पाल पोथियों एवं चैत्य, मूलगंधकुटी व धर्मराजिका स्तूपों आदि का भी निर्माण करवाया था। नालन्दा में उसके द्वारा बनाये गये एक विशाल मन्दिर के भी प्रमाणित अभिलेख प्राप्त हुए हैं इसके साथ-साथ उसने काशी में भी अनेक वास्तु निर्माण कार्य करवाये। उसे पाल साम्राज्य का दूसरा संस्थापक माना जाता है। अन्ततः 400 वर्षों का पाल साम्राज्य 'गोविन्द पाल' नामक सम्राट के साथ ही समाप्त हो जाता है और यहाँ एक नवीन राजवंश के रूप में 'सेन साम्राज्य' का अविर्भाव हुआ। अविनाश बहादुर वर्मा ने पाल वंश के अन्तिम सम्राट के रूप में राजा रामपाल (1084 ई. से 1130 ई.) का उल्लेख किया है। सेन साम्राज्य का ब्राह्मण धर्म के अनुयायी के रूप में प्रदुर्भाव हुआ परन्तु इसके साथ ही इन्होंने बौद्ध धर्म का विरोध भी किया। अतः इस समय बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा को अत्यधिक आघात का सामना करना पड़ा। सेन वंश के शासकों में विजयसेन, वल्लासेन, लक्ष्मणसेन आदि प्रमुख ख्यातिमान सम्राट रहे। संस्कृत साहित्य में गौड़ीय रीति का विकास इसी काल में हुआ। सेन वंश का राजा लक्ष्मणसेन कला एवं साहित्य प्रेमी सम्राट हुआ यही कारण था कि उसने 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव तथा उमापतिधर, गोवर्धनाचार्य, श्रीधरदास, हलायुध आदि जैसे विख्यात कवि, साहित्यकार एवं विद्वानों को राज दरबार में संरक्षण प्रदान किया था।

मध्यकालीन कला के अवलोकन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उस समय पाल राजवंश की प्रतिष्ठा बौद्ध धर्म के कारण अनेकानेक देशों तक विस्तार पा चुकी थी। वेदपाल का जावा तथा सुमात्रा के शासक 'बलपुत्रदेव' के साथ सांस्कृतिक एवं कलात्मक संबंध रहे थे। पाल शासक कला, साहित्य एवं संगीत आदि अनेक विधाओं के परम उपासक रहे अतः उन्होंने अनेक विख्यात शिक्षण संस्थानों की स्थापना की जिसमें अनेक भाषा, विषयों तथा कला, संस्कृति, विज्ञान, गणित आदि क्षेत्रों से जुड़े विद्वानों एवं विशेषज्ञों को राज्य का संरक्षण प्राप्त था।

सन्दर्भ

1. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, जवाहर नगर बंगलो रोड दिल्ली, (1990) पृ०-131
2. प्रताप, रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, झालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर, (2004) पृ.-10

3. वर्मा, अविनाश बहादुर भारतीय चित्रकला का इतिहास, प्रकाश बुक डिपो, बड़ा बाजार, बरेली, (1968) पृ.-1
4. उपाध्याय, भगवत शरण, भारतीय कला का इतिहास, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, (1981) पृ.-185
5. दास, रायकृष्ण, भारत की चित्रकला, भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहबाद, (1972) पृ.-32
6. शर्मा, लोकेश चन्द्र, भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, कृष्णा प्रकाशन मीडिया (प्रा.) लि., शिवाजी रोड़, मेरठ, (2004) पृ.-29
7. वही
8. बडेरिया, तारकनाथ, भारतीय चित्रकला का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, (2004) पृ. 49
9. बडेरिया, तारकनाथ, भारतीय चित्रकला का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, (2004) पृ.-49-50
10. प्रताप, रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जालाना सांस्थानिक क्षेत्र, जयपुर, (2004) पृ.-108
11. अग्रवाल, श्यामबिहारी, भारतीय चित्रकला का इतिहास (मध्यकाल), रूपशिल्प प्रकाशन, मिंटों पार्क, इलाहबाद, (1999) पृ.-10
12. वर्मा, डॉ. महेन्द्र, भारतीय चित्रकला की परम्परा, भारतीय कला प्रकाशन त्रीनगर, दिल्ली (2006) पृ.-40
13. अग्रवाल, श्यामबिहारी, भारतीय चित्रकला का इतिहास (मध्यकाल), रूपशिल्प प्रकाशन, मिंटो पार्क, इलाहबाद, (1999) पृ.-10

ग्वालियर कलाक्षेत्र के प्रतिष्ठित कलाकार कलाशिक्षक त्रियम्बक राव यावलकर

डॉ. वासन्ती (बक्षी) जोशी*

ग्वालियर राज्य के कलाकारों का इतिहास त्रियम्बक राव यावलकर के बिना अधूरा है। 1948 के पहले ग्वालियर राज्य सीमा में मंदसौर, उज्जैन आदि आते थे। सिंधिया की राजधानी दौलतराव सिंधिया के शासन के पहले उज्जैन ही थी। अतः त्रियम्बकराव यावलकर ग्वालियर रियासत के अंतर्गत ही आते हैं।

पश्चिम रेलवे के मुम्बई-दिल्ली लाईन से जब ट्रेन नागदा रेलवे स्टेशन के बाद गुजरती है तो यात्रियों की निगाहें बरबस सुवासरा रेलवे स्टेशन की ओर जाती हैं जहां 32 फुट ऊंची अल्हड़ ग्रामीण बाला की एक मूर्ति स्थापित है। धरती के उस 65 एकड़ टुकड़े पर उसके अतिरिक्त अन्य कई मूर्तियां सारे स्थान को कलात्मक बना रही हैं, जो मंदसौर जिले का एक गांव सुवासरा है।

इस स्थान को मूर्ति का तीर्थ क्षेत्र बनाने का प्रथम श्रेय श्री त्रियम्बक राव यावलकर जी को जाता है जिसकी स्थापना आपने 1930 में की थी। आपने अपना जीवन कला के लिए समर्पित किया था। सुवासरा में स्वर्गीय त्रियम्बक राव यावलकर जी ने सैकड़ों व्यक्तियों को कला की शिक्षा दी। बच्चों पर उनका असीम प्यार था। सुबह-सबरे आंख खुलते ही बस्ती भर के बच्चे दौड़ते हुए उनके पास पहुँच जाते हैं। अपने घर के सामने वे बच्चों की फौज को प्रकृति की छाया में चित्रकारी की शिक्षा देते थे। वे उन्हें उत्साहित करते थे। उनका मनोबल उंचा उठाते। अपने पैसों से कागज पेन्सिल रंग, इत्यादि खरीदकर बच्चों को बांटते। कला के शौकीन कई लोग उनसे चित्रकारी इत्यादि सीखने दूर-दूर से आते। (चित्र संख्या)-1

“लगभग 80 वर्ष की आयु में भी यह कला साधक मंदसौर जिले के सुवासरा नामक मण्डी में एकांत कलासाधना में लीन था। वहां श्री यावलकर ने अपना एक कला विद्यालय चला रखा था, जिसमें तन्मयतापूर्वक बालकों को चित्रकला तथा शिल्पकला की शिक्षा देते थे। इस महान कलाकार के चरणों में बैठ कर कुछ सीखने के लिए विदेशों तक से लोग आते थे। भारतव्यापी ख्याति प्राप्त करने वाले श्री नागेश यावलकर आपके पुत्र हैं।

श्री त्रियम्बक राव यावलकर, मुकुंद सखाराम भाण्ड के समकालीन कलाकार थे। श्री मुकुंद राव भाण्ड ने ही सुवासरा के एकांत में उनके कार्य को देखा था। सिंहस्थ मेले में दादा को कला शिल्प का जिम्मा सौंपा गया था। इस सुअवसर पर दादा ने त्रियम्बक राव यावलकर को उज्जैन बुलाकर उनकी कला को प्रसिद्धि दिलायी थी। उनके योगदान का कला इतिहास में उल्लेख नहीं मिलता है। यह एक दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। आपकी गिनती 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक के कलाकारों में की जाना चाहिए।

* विभागाध्यक्ष, चित्रकाला, विजयाराजे, शा. स्नात्कोत्तर, महाविद्यालय, ग्वालियर

आज से लगभग 80 वर्ष पहले मध्य भारत में कला शिक्षा एवं चित्रकला क्षेत्र का आर्थिक महत्व नहीं था। अतः छात्र आगे की शिक्षा हेतु अन्य विषयों में पढ़ाई कर जीवन यापन करते थे। उसमें सुवासरा जैसे गांव में चित्रकला शिक्षा से रोजी-रोटी के लिए कोई ठिकाना नहीं था। त्रियम्बक राव यावलकर जी इस बात को भलीभाँति अनुभव करते और दिल मसोस कर रह जाते। आशा की एक क्षीण किरण उन्हें अपने पुत्र में नजर आती थी।

आपका परिचय श्री मुकुंद राव भाण्ड से हुआ था और आपने अपने पुत्र को आगे की शिक्षा हेतु मुकुंद राव भाण्ड के पास उज्जैन भेजा था। आपने अनेक चित्र एवं मूर्ति गढ़ी हैं। (चित्र संख्या -2) इनके संयोजन चित्र यथार्थ शैली के थे। सन् 1957 ई. में त्रियम्बक राव यावलकर की मृत्यु के साथ भारतीय कला जगत का एक महान कला साधक खामोश हो गया। उनकी मृत्यु से सुवासरा केन्द्र को बहुत बड़ा नुकसान पहुँचा कारण सुवासरा को कला केन्द्र बनाने वाले वे ही अकेले थे। उनके बाद उनके पुत्र श्री नागेश यावलकर ने अपने पिता के सपने को पूर्ण करने का पूरा प्रयत्न किया।

श्री त्रियम्बक राव यावलकर सही मायने में कला सेवी थे। कला के प्रसार का उन्हें मानो नशा था। जहाँ रहे कला साधना में लगे रहे सुवासरा सही मायने में ग्वालियर स्टेट के समय अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता था। बाद में मध्य भारत में सुवासरा का विलय हुआ। आज यह क्षेत्र मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र के अंतर्गत आता है। इसे बनाने का श्रेय ग्वालियर नरेश को जाता है जिन्होंने त्रियम्बकराव एवं नागेश यावलकर की योग्यता को देख कर 65 एकड़ जमीन भेंट की थी। यही कारण है कि 20वीं शताब्दी के ग्वालियर कला क्षेत्र में श्री त्रियम्बकराव यावलकर का योगदान महत्वपूर्ण है जिसे भुलाया नहीं जा सकता।

सन्दर्भ

1. फिरोज अशरफ, सुवासरा कला केन्द्र, नई दुनिया, इन्दौर से प्रकाशित 12.09.1976
2. नई दुनिया फिरोज अशरफ सुवासरा कला केन्द्र 12.09.76
3. हरिहर निवास द्विवेदी, मध्य भारत का इतिहास चतुर्थ खण्ड, पृ. 401
4. श्री लक्ष्मण भाण्ड भोपाल साक्षात्कार
5. फिरोज अशरफ, सुवासरा कला केन्द्र, नई दुनिया, 12.9.1976 इन्दौर से प्रकाशित
6. फिरोज अशरफ, सुवासरा कला केन्द्र, नई दुनिया, 12.9.1976 इन्दौर से प्रकाशित
7. फिरोज अशरफ, सुवासरा कला केन्द्र, नई दुनिया, 12.9.1976 इन्दौर से प्रकाशित

विभिन्न कला शैलियों का संगम स्थल 'दरबार साहिब'

दिव्या थापा*

हिमालय पर्वत सदैव ही पवित्रता का द्योतक रहा है। यह पौराणिक कथाओं के आधार पर भगवान शंकर की निवास स्थली एवं महान साधु-सन्तों व ज्ञानी महापुरुषों की तपो भूमि रही है। यहाँ समय-समय पर अनेक महापुरुषों का आगमन एवं अवतरण होता रहा है जो सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिक मूल्यों से परिचित करवाते रहे हैं। ऐसा ही एक नाम सिक्खों के गुरु श्री गुरु राम राय जी का भी है, जिन्होंने द्रोणनगरी को अपना साधना स्थल बनाया। श्री गुरु राम राय जी का जन्म 1645 ई.वी. में हुआ था और वह सिक्खों के सातवें गुरु हर राय जी के सबसे बड़े पुत्र थे।¹ इन्होंने 1676 ई. में दून (घाटी) में अपना डेरा (शिविर) की स्थापित किया। जिस कारण यह स्थान 'देरादून' कहलाया जो कालान्तर में परिवर्तित होकर देहरादून हो गया।²

मुगल सम्राट औरंगजेब श्री गुरु राम राय जी की चमत्कारी शक्तियों से अत्यधिक प्रभावित थे। इसलिए उन्होंने गढ़वाल के समकालीन राजा फतेह शाह को श्री गुरु राम राय जी को हर सम्भव मदद प्रदान करने को कहा।³ इस सम्बन्ध में जब गढ़वाल नरेश ने इनसे भेंट की तो वे भी इनके मुरीद हो गये जिसके फलस्वरूप उन्होंने गुरु जी को सात गाँव उपहार स्वरूप प्रदान किये जिनमें से धामावाला में गुरु मन्दिर का निर्माण 1699 ई0 से प्रारम्भ हुआ।⁴ दरबार की संरचना समकालीन इण्डो-मुगल स्थापत्य शैली में निर्मित है, जो एक बड़े क्षेत्रफल में 480 मीटर ऊँची दीवार से घिरा हुआ है।⁵ औरंगजेब ने वर्तमान मकबरा (समाधि मन्दिर) रामराय की स्मृति में लाहौर में बने जहाँगीर के मकबरे की वास्तुशैली के अनुसार बनाने का आदेश दिया।⁶ यहीं पर वर्तमान समय में गुरुगद्दी संरक्षित है साथ ही इस भवन के किनारों पर छोटे स्मारक इनकी पत्नियों की स्मृति में निर्मित किये गये हैं।

कला की उत्पत्ति के मूल में हमें धार्मिक भावना की प्रधानता दिखाई देती है।⁷ धर्म का यही समन्वित आधार दरबार साहिब के भित्तिचित्रों में भी परिलक्षित होता है। यहाँ के चित्रण विषयों में अत्यधिक विविधता विद्यमान रही है। यह चित्र एक ओर जहाँ हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख आदि धर्मों का प्रतिनिधित्व करते हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ चित्रों ने ऐतिहासिक घटनाओं को भी उजागर किया है। चित्रकारों ने झण्डा मेले की कथा, महन्तों, साधु-साध्वी, अंग्रेजी महिला-पुरुषों तथा जनसाधारण आदि को भी प्रमुखता से चित्रित किया है।

दरबार साहिब के भित्तिचित्रों के निर्माण का कालक्रम अलग-अलग रहा है, चित्रों की विविधता को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के चित्रों को अनेक कलाकारों द्वारा अलग-अलग समय में सृजित किया गया है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि सम्राट औरंगजेब ने मुख्य भवन के निर्माण हेतु सक्रिय भूमिका निभायी थी। अतः यह भी

* शोधार्थी (चित्रकला), एस.एस.जे. केम्पस, अल्मोड़ा, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

सम्भव है कि प्रारम्भ में जिन कलाकारों ने गुरुद्वारे की भित्तियों को चित्रित किया वे दिल्ली दरबार से बुलाये गये थे।⁹ मुख्य वेदिका के चित्रों की विषयवस्तु, शैली तथा रंगों का चयन आदि मुस्लिम कलाकारों द्वारा सम्पादित होने की ओर इंगित करता है।⁹

लगभग 100 वर्ष की लम्बी अवधि के पश्चात् जब पुनः यहाँ अलंकरण कार्य प्रारम्भ हुआ तो पंजाब घराने के चित्रकारों द्वारा पहाड़ी विधान के आधार पर चित्रण किया गया।¹⁰ यह वह समय था जब पहाड़ी राज्यों में सिक्खों का बहुत अधिक प्रभाव था। सिक्खों के राजनैतिक प्रभुत्व के कारण ही बाद के पहाड़ी चित्रों में सिक्खों के कुछ प्रतीक चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं।¹¹

इनके अतिरिक्त दरबार साहिब के भित्ति चित्रों में पहाड़ी शैली के तत्व भी विद्यमान हैं। इन भित्तिचित्रों में हिन्दी तथा उर्दू भाषा में 'तुलसीराम' नामक चित्रकार का नाम अंकित किया गया है। परिस्थितीय साक्ष्यों के आधार पर तुलसीराम (1881-1950 ई0) अवश्य ही मौलाराम का पौत्र जान पड़ता है।¹² मुकुन्दी लाल ने भी अपनी पुस्तक 'गढ़वाल पेन्टिंग' में तुलसीराम को मौलाराम का पौत्र कहा है।¹³ मौलाराम गढ़वाल शैली का प्रमुख कलाकार था। तुलसीराम इन भित्तिचित्रों का प्रधान कलाकार रहा होगा। इसके साथ ही गढ़वाल में राजनीतिक उदासीनता के कारण, वहाँ के अनेक शरणार्थी कलाकार भी श्रीनगर तथा टिहरी से कार्य पाने हेतु दरबार पहुँचे। ओ. सी. हाण्डा ने भाई भालो दरवाजा में चित्रित उत्कृष्ट कलाकृतियों को इन्हीं कलाकारों द्वारा अंकित करने की सम्भावना व्यक्त की है।

दरबार साहिब के चित्रों के विषय पहाड़ी, राजस्थानी, मुगल तथा सिक्ख कला शैलियों के समतुल्य ही हैं, किन्तु चित्र निर्मिति का अंदाज यहाँ के कलाकारों का बिल्कुल मौलिक रहा है। नूरजहाँ का एक चित्र यहाँ विशेषतः अनेक कलानुरागियों को आकर्षित करता रहा है। मुख्यतः मुगल शैली में नूरजहाँ का जो भी चित्र बना है उसमें उन्हें फूल पकड़े हुए ही अंकित किया गया है, जबकि दरबार साहिब में नूरजहाँ को बैठी हुई मुद्रा में पहाड़ी नथ पहने हुए अंकित किया है। भारतीय पुरातत्व विशेषज्ञ श्री रंजन चक्रवर्ती का कहना है कि उन्होंने राजस्थानी, पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश के बहुत सारे स्थानों के चित्रों को ध्यान से देखा है, किन्तु जो नूरजहाँ का चित्रण यहाँ हुआ है वह बिल्कुल नायाब एवं पारम्परिक शैली पर आधारित हैं।¹⁴ एक अन्य चित्र गणेश-पार्वती से सम्बन्धित है, जिसमें पार्वती माता अपने पुत्र को स्तनपान करवा रही हैं। इससे पूर्व किसी अन्य कला शैली में गणेश-पार्वती जी का ऐसा चित्रण दुर्लभता से ही दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त एक चित्र में गणेश जी को कण्ठ में सर्प धारण किये चित्रित किया गया है।

सारे संसार की प्राचीनतम कलाकृतियाँ भित्तिचित्रण के रूप में ही अवशिष्ट हैं।¹⁵ दरबार साहिब के चित्तेरों ने भी पूर्व में प्रचलित इस तकनीक का प्रयोग कर अपनी कलाकृतियों को चीरस्थायीत्व प्रदान करने की चेष्टा की है। यहाँ के चित्रों में कलाकारों ने प्राकृतिक रंगों को प्रयुक्त किया है, जिनमें मुख्यतः पीत, नील, श्वेत, लाल, गेरु, हरे वर्णों आदि का प्रयोग भावानुसार हुआ है, किन्तु समय तथा वातावरणीय प्रभाव के कारण यहाँ के कुछ चित्र नष्ट हो गये हैं। इन चित्रों की विशिष्टता के कारण वर्ष 2012 से भारतीय पुरातत्व विभाग ने इन चित्रों को संरक्षित कर दिया है।

दरबार साहिब जहाँ एक ओर सिक्खों के आस्था का केन्द्र होने के कारण पूजनीय है, वही दूसरी ओर यह विभिन्न कला शैलियों को एक ही धरातल के माध्यम से कला प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत करता है।

सन्दर्भ :

1. लाल, प्रेम हरि हर, दून घाटी की गाथा, ग्रीनफील्ड्स पब्लिशर्स, देहरादून, 2006, पृ.-244
2. Official website of Dehradun, Guru Ram Rai Darbar, www.sgrrdarbar.org
3. Dobhal, Sushil Chandra, Brief History of Shri Guru Ram Rai Darbar Sahib, Darbar Shri Guru Ram Rai Ji Maharaj, Dehradun, 2013, Pg-21
4. Dehradun Town, Imperial Gazetteer of India V.11, Pg-221
5. Handa, O.C, Jain, Madhu, Art and Architecture of Uttaranchal, Pentagon Press, New Delhi, 2009, Pg-37
6. लाल, प्रेम हरि हर, दून घाटी की गाथा, ग्रीनफील्ड्स पब्लिशर्स, देहरादून, 2006, पृ.-250
7. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, 1990, पृ.-76
8. Kamboj, B.P, Yearly Wall Painting of Garhwal, Indus Publishing Company, New Delhi, 2003, Pg-34
9. Handa, O.C, Jain, Madhu, Art and Architecture of Uttaranchal, Pentagon Press, New Delhi, 2009, Pg-39-40
10. Kamboj, B.P, Yearly Wall Painting of Garhwal, Indus Publishing Company, New Delhi, 2003, Pg-34
11. Seth, Mira, Wall Paintings of The Western Himalayas, Publications Division Ministry of Information and Broadcasting Government of India, New Delhi, 1976, Pg-Eight
12. Handa, O.C, Jain, Madhu, Art and Architecture of Uttaranchal, Pentagon Press, New Delhi, 2009, Pg-42
13. Lal, Mukandi, Garhwal Painting, The Director Publication Division Ministry of Information and Broadcasting Government of India, New Delhi, 1982, Pg-16
14. Dobhal, Sushil Chandra, Brief History of Shri Guru Ram Rai Darbar Sahib, Darbar Shri Guru Ram Rai Ji Maharaj, Dehradun, 2013, Pg-77
15. 'अशोक' डा. गिराज किशोर अग्रवाल, कला-निबन्ध, ललित कला प्रकाशन, अलीगढ़, 1989, पृ.-257

ग्रामीण साख

डॉ. रमेश कुमार जैन*

प्रस्तावना

भारत वर्ष कृषि प्रधान देश है। भारत की आत्मा गांव में बसती है भारत का विकास गांव के विकास में निहित है गांव की जीविका का साधन कृषि तथा कृषि आधारित उद्योग हैं यदि कृषि आधारित उद्योगों के संबंध में सही एवं दीर्घकालीन नीति अपनाई जाये तो ना केवल गांव का विकास होगा बल्कि गांव से शहरों की ओर जनसंख्या का पलायन रुकेगा परिणमतः गांव आत्म निर्भर बनेंगे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के 66 वर्ष बीतने के बाद भी आज तक ग्रामीण साख के संबंध में कोई ठोस नीति नहीं बनाई जा सकी फलस्वरूप भारत के गांव आज भी पिछड़े हुए हैं। आवश्यकता है ग्रामीण साख की समुचित व्यवस्था करके आत्मनिर्भर बनाने की आज ग्रामीण विकास को वोट बैंक की राजनीति से जोड़कर नीतियां तैयार की जाती हैं जिससे देश के अधिकांश गांव सुविधा विहीन बने हुए हैं। ग्रामीण साख सुविधाओं के लिए वादे तो ढेर सारे किये जाते हैं किन्तु यथार्त के धरातल पर वह पूरे कागजी खानापूर्ति साबि होते हैं। फलस्वरूप गांव में रहने वाले लोग दरिद्रनारायण बने हुए हैं आज आवश्यकता है ग्रामीण आबादी को मुख्य धारा से जोड़ने की उनके जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की उन्हें आत्मनिर्भर बनाने की।

ग्रामीण वित्त प्रबंध

वित्त की आवश्यकता : वित्त व्यावसायिक अर्थव्यवस्था की आत्मा है वित्त के द्वारा ही व्यवसाय की समस्त क्रियाओं का संचालन होता है। वित्त की पर्याप्त पूर्ति व्यवसाय सफलता का मंत्र है उद्योग चाहे छोटा हो या बड़ा वित्त की आवश्यकता पड़ती है यही कारण है कि वित्त कार्य वित्तीय प्रबंध का अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र माना जाने लगा है। वर्तमान वातावरण में निम्न बिंदुओं से वित्त की आवश्यकता भली प्रकार स्पष्ट होती है।

1. व्यवसाय की स्थापना के लिए वित्त रीढ़ के समान है क्योंकि वित्त के अभाव में व्यवसाय की स्थापना नहीं की जा सकती।
2. अधिकतम लाभ कमाने के लिए वित्त की महती आवश्यकता है।
3. स्थाई तथा कार्यशील पूंजी की आवश्यकता साख सुविधाओं पर निर्भर है।
4. पूंजी का सही उपयोग करके ही अधिकतम लाभ कमाया जा सकता है।
5. पूंजी का सही उपयोग करके ही अधिकतम लाभ कमाया जा सकता है।
6. उद्योग की सम्पत्ति की मूल्य में वृद्धि करने के लिए पूंजी की आवश्यकता पड़ती है।

* वाणिज्य विभाग, एम.एल.बी. उत्कृष्ट महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

स्थाई तथा कार्यशील पूंजी

‘वित्त उद्योग और वाणिज्य में पहिये के लिए तेल, हड्डीयों के लिए सार, नाड़ियों का रक्त, और व्यापार की आत्मा है। वित्त व्यवसाय की एक ऐसी धुरी है जिसके ऊपर औद्योगिक व्यवस्था टिकी रहती है पूंजी की आवश्यकताओं को दो भागों में बांटा जा सकता है।

1. **स्थाई पूंजी** : एक औद्योगिक उपक्रम की स्थापना की जाती है तो आवश्यक स्थायी सम्पत्तियों के क्रय करने हेतु एवं विभिन्न व्ययों का भुगतान करने हेतु स्थायी पूंजी की आवश्यकता होती है। वास्तव में यही स्थाई पूंजी उद्योग की आधारशिला है।

2. **कार्यशील पूंजी** : इसे चालू पूंजी के नाम से भी जानते हैं इस पूंजी के अंतर्गत वे सब व्य आते हैं। जो किसी उद्योग में कच्चे माल का क्रय करने में मजदूरी, किराया, मरम्मत आदि पर किये जाते हैं।

साख प्रदान करने वाले साधन

1. दीर्घकालीन साख — (अ) स्थाई पूंजी 1. समताअंश 2. पूर्वाधिकारी अंश
3. अवितरित लाभ
ब. ऋणगत पूंजी— 1 ऋण पत्र 2. बंधक पत्र 3. दीर्घकालीन ऋण
1. सरकारी अथवा अर्धसरकारी साधनों से ऋण 2. वित्तीय निगमों एवं संस्थानों से ऋण 3. अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों से ऋण।
2. मध्यकालीन साख 1. व्यवसायिक बैंकों से ऋण 2. वित्तीय निगमों से ऋण
3. जन निक्षेप 4. साअवधि ऋण 5. सोध्य पूर्वाधिकारी अंश या ऋण पत्र
6. किराया पद्धति पर सम्पत्ति का क्रय
3. अल्पकालीन साख (अ) व्यापारिक बैंक 1. देय विपत्र 2. प्रपत्र 3. हुण्डी
4. चालू उधार
ब. बैंक ऋण 1. सुरक्षित ऋण 2. असुरक्षित ऋण 3. अधिविकर्ष
स. अन्यसाधन — 1. सहकारी साख समितियां 2. साहूकार 3. निजी ऋण
4. इस कोष 5. कर आयोजन

वित्त प्रदान करने वाली संस्थायें

1. **भारतीय उद्योग वित्त निगम** : स्थापना जुलाई 1948 उद्देश्य भारतीय उद्योगों को मध्य एवं दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना।
2. **भारतीय औद्योगिक विकास बैंक** : स्थापना जुलाई 1964 उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए अतिरिक्त वित्त प्रदान करने वाली अन्य संस्थाओं की क्रियाओं का समन्वय करना।
3. **भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम** : 5 जनवरी 1955 उद्देश्य निजी क्षेत्र की औद्योगिक इकाईयों के प्रवर्तन विस्तार और आधुनिकीकरण में सहायता करना।

4. **मध्य प्रदेश वित्त निगम स्थापना** : 1955 में की गई और इसका नाम वित्त निगम क्षेत्रीय विकास बैंक है। उद्देश्य लघु एवं मध्यम श्रेणी के उद्योगों की स्थापना एवं आधुनिकीकरण है।
5. **भारतीय उद्योग पुनर्निर्माण निगम** : स्थापना 1971 लेकिन 20 मार्च 1985 को सरकार ने इसे वैधानिक निगम के रूप में परिवर्तित कर दिया और इसका नाम भारतीय औद्योगिक पुनर्निर्माण बैंक हो गया।
6. **भारतीय जीवन बीमा निगम स्थापना** : 1956 उद्देश्य जीवन बीमा करना एवं प्राप्त प्रीमियम का बीमाधारकों के हित में उद्योगों को ऋण देकर एवं विनियोग करके लाभ कमाना।
7. **मध्य प्रदेश औद्योगिक विकास निगम स्थापना** : 1965 उद्देश्य वृहद एवं मध्यम उद्योगों के लिए अधोसंरचना विकास करने एवं उन्हें दीर्घकालीन ऋण, अंशपूंजी एवं भागीदारी प्रदान करना है।
8. **मध्य प्रदेश निर्यात निगम** : स्थापना 1977 उद्देश्य उत्पादित वस्तुओं के निर्यात, उद्योगों के लिए कच्चे माल का आयात एवं स्थानीय व्यापार को प्रोत्साहित करना।
9. **मध्य प्रदेश लघु उद्योग निगम** : स्थापना वर्ष 1961 प्रदत्त पूंजी 267.75 लाख रुपये हैं।
10. **मध्य प्रदेश खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड** : इस बोर्ड की स्थापना का उद्देश्य ग्रामोद्योग के समुचित विकास हेतु आर्थिक सहायता प्रशिक्षण विपणन सुविधा उपलब्ध कराना तथा ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर प्रदान करना है।
11. **मध्य प्रदेश राज्य खनिज निगम** : स्थापना 1962 उद्देश्य प्रदेश में मुख्य एवं गौण खनिजों के उत्पादन विपणन, खोज, सर्वेक्षण, अयस्क को धातु में परिवर्तन करने तापी निर्यात में मध्यस्था करना है।
12. **अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक** : वाणिज्यिक संस्थाएं हैं जिनका मुख्य कार्य ग्राहकों की जमा स्वीकार करना एवं हितग्राहियों को अल्पकालीन ऋण प्रदान करना है ऋण प्रदान करने की उपर्युक्त व्यवस्था नकद साख है जो कि व्यक्तिगत साख के आधार पर दी जाती है। 1 जुलाई 1969 को व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से उद्योगों को दी जाने वाली सहायता पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने एवं विकास को गति देने में अनुसूचित बैंकों की महत्वपूर्ण भूमिका है वर्तमान में इन बैंकों की संख्या 5865 है।
13. **ग्रामीण बैंक** : देश के विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार हेतु इनकी स्थापना की गई यह बैंक जमाएं स्वीकार करने के साथ-साथ सरकार की विभिन्न योजनाओं के तहत ग्रामीण साख का प्रबंध करती हैं।
14. **सहकारी साख समितियां** : ग्रामीण वित्त व्यवस्था में इन समितियों का महत्वपूर्ण स्थान है इन समितियों के माध्यम से ग्रामीण साख की व्यवस्था की जाती है।
15. **स्थानीय साहूकार** : साहूकार भी ग्रामीण साख प्रबंध का एक अभिन्न अंग हैं इनके माध्यम से ग्रामीणों की अल्पकालीन वित्त व्यवस्था की जाती है।

उपसंहार एवं समाधान हेतु सुझाव

उपर्युक्त समस्त संस्थाओं के माध्यम से ग्रामीण साख की व्यवस्था की जाती है फिर भी शिक्षा के अभाव एवं सुविधाओं के पर्याप्त न होने के कारण ग्रामीण जीवन पिछड़ा हुआ है अन्नदाता कहा जाने वाला ग्रामीण आज भी समस्या भरी जिंदगी जीने के लिए विवश है अतः ग्रामीण साख की समुचित व्यवस्था हेतु ठोस एवं स्थाई नीति की आवश्यकता है।

1. सरकार द्वारा ऐसे प्रयास किये जाये जिसमें गांव एक आत्म निर्भर इकाई के रूप में विकसित हो।
2. गांव के निवासियों को क्षमतानुसार गांव में ही साख सुविधाएं मिले।
3. गांव में लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास किया जाये एवं उन्हें समुचित साख सुविधाएं प्रदान की जायें।
4. उद्योग हेतु तकनीक इस प्रकार की हो जो गांव में उपलब्ध परम्परागत ऊर्जा का उपयोग करें।
5. गांव में विद्युत व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाये एवं कृषि तथा कृषि आधारित उद्योगों के लिए न्यूनतम दरों पर विद्युत व्यवस्था की जाये।
6. ग्रामीण साख सुविधाएं ग्रामीणों की आवश्यकता के अनुरूप हो।
7. ग्रामीण साख उपलब्ध कराते समय आर्थिक आधार को ध्यान में रखा जाये।
8. कृषि आधुनिकीकरण के लिए स्वदेशी तकनीक को बढ़ावा देने हेतु साख सुविधाएं प्रदान की जायें।
9. ग्रामीण उत्पादों के विपणन की समुचित व्यवस्था की जाये ताकि शोषण मुक्त व्यवस्था स्थापित हो सकें।
10. कृषकों एवं उद्यमियों का सहज वित्त सुलभ कराया जाये।

मुगलकालीन चित्रों में नारी

डॉ. रीतिका गर्ग*

मुगल साम्राज्य जिस प्रकार अपनी भव्यता ऐश्वर्य तथा राजसी वैभव के साथ उदित हुआ उसी प्रकार मुगल चित्रकला ने भी अपनी विशेषताओं के कारण भारतीय कला में अपना अलग महत्व तथा स्थान ग्रहण किया। मनोहारी रंग-योजना, गतिमान रेखांकन तथा आकर्षक चित्र-संयोजन की दृष्टि से मुगलकालीन लघुचित्र इतने समर्थ तथा सशक्त हैं कि दर्शकों की दृष्टि को बरबस ही अपनी ओर खींच लेते हैं।

संसार के प्रायः सभी देशों में, प्रत्येक युग में कला को आस्था एवं विश्वास के साथ अपनाया गया है। कला मनुष्य की एक सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति का सशक्त साधन है। लेकिन इस्लाम धर्म में पवित्र धार्मिक जीवन बिताने के लिए इसे बाधक माना गया। परन्तु इस्लाम धर्मानुयायी इस निषेध का पालन न कर सकें और धार्मिक प्रतिबंधों के होते हुए भी चित्रकला को बड़े साहस एवं उत्साह के साथ अपनाया। जब तक इस्लाम अरब में बना रहा वहाँ की पोथियाँ चित्र रहित थीं लेकिन जब इसका विस्तार मिस्र, स्पेन, ईरान एवं भारत में हुआ तब वहाँ की कला-प्रवृत्ति के अनुसार कुछ शासकों ने उसे संरक्षण दिया।¹ इस्लामी सभ्यता में ऐसा कई बार हुआ जब किसी शासक ने थोड़ी स्वतंत्रता लेकर चित्रकला का विकास किया लेकिन उसके बाद कट्टरपंथी मुस्लिम शासकों ने उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

भारत वर्ष में चित्रकला का निर्माण कार्य किसी न किसी प्रकार अविच्छिन्न रूप में अनेक शताब्दियों तक होता रहा। इस परम्परा में प्रबल अवरोध तक उपस्थित हुआ जब भारत में मुगलों ने प्रवेश करना आरम्भ किया। इस विधर्मी सल्तनत के कारण और भारतीय रजवाड़ों में आपसी गृह-कलहों के कारण कई वर्षों तक चित्रकला की परम्परा मृत-प्राय सी बनी रही। किन्तु मुगलों का उद्देश्य कला की इस पुनीत थाती को विध्वस्त करना नहीं था, अपितु भारत में अपने अस्तित्व की जड़े जमाना था। कला प्रेम तो उनकी रगों में कूट-कूट कर भरा हुआ था। यहाँ तक कि इस्लाम के कटु निषेध और अनेक प्रकार के प्रतिबंध भी मुगलों के कला प्रेम को कम न कर सकें।²

14वीं शती के उत्तरार्द्ध में मध्य-एशिया में तैमूर लंग का उदय हुआ। क्रूर-संहारक होने के साथ वह कलाप्रेमी था और जहाँ कल्लेआम कराता था वहाँ की कलाकृतियों के साथ चुने हुए कारीगरों को भी समरकंद भेज देता था। भारत वर्ष के गुजरात, बहमनी आदि स्थानों से अनेक शिल्पियों एवं कलाकारों को पकड़ कर वह समरकन्द ले गया। तैमूर के पुत्र शाहरूख (1404-1447 ई.) ने हिरात में अपनी राजधानी बनायी। उसकी कला प्रियता के कारण ईरानी चित्रकला की एक नयी शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसे बाद में 'हिरात शैली' के नाम से जाना गया। ऐसी संभावना है कि इस हिरात कलम के प्रवर्तक भारत के विस्थापित कलाकारों के ही वंशज रहे होंगे।³

* असिस्टेंट प्रोफेसर चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

15वीं शती के उत्तरार्द्ध में इस शैली का प्रसिद्ध चित्रकार विहजाद हुआ जो हिरात में तैमूर वंशज हुसैन मिर्जा का दरबारी कलाकार था। मिर्जा के अन्त के बाद ईरान के साफवी वंश का प्रथम शासक शाह इस्माईल विहजाद को तब्रेज ले गया और इस प्रकार सम्पूर्ण ईरान में विहजाद शैली का प्रचार हुआ। डॉ. मुल्कराज आनन्द ने लिखा है—‘विहजाद ने लघु चित्रण की आकर्षक विद्या को आवेशित एवं क्रियाशील दृश्यों में रूपान्तरित कर दिया। प्रकृति मानवीय आकृतियों की केवल पृष्ठभूमि न रही वरन मनुष्यों की भांति सजीव बन गयी।’ विहजाद के दो शिष्य तब्रेज निवासी मीर सैयद अली और शीराज निवासी ख्वाजा अब्दुस्समद को हुमायूँ अपने साथ भारत ले आया था जिन्होंने भारतीय चित्रकला में मुगल शैली की नींव रखी। मुगल शासकों ने इन ईरानी कलाकारों को अपने दरबार में नियुक्त किया तथा बहुत से श्रेष्ठ हिन्दू कलाकारों को उनके साथ मिलकर काम करने के लिए आमन्त्रित किया। इस प्रकार फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से भारत भूमि पर मुगल शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

भारत में मुगल सल्तनत का संस्थापक बाबर तैमूर की पांचवी पीढ़ी में पैदा हुआ था। उसकी माता मंगोल वंश की थी इसलिए बाबर का शाही वंश मुगल वंश के रूप में विख्यात हुआ। कई निष्फल आक्रमणों के बाद सन् 1526 ई० में पानीपत के युद्ध में बाबर की विजय हुई और वह दिल्ली के सिंहासन पर विराजमान हो गया। बाबर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र हुमायूँ उत्तराधिकारी हुआ किन्तु उसे दिल्ली सल्तनत छोड़कर भारत से भागना पड़ा। एक वर्ष ईरान में रहकर सन् 1544 ई० में हुमायूँ भारत आया और पुनः दिल्ली का शासन हस्तगत कर लिया। हुमायूँ ने काबुल से मीर सैयद अली और ख्वाजा अब्दुस्समद को भारत बुलवा लिया तथा इन दोनों कलाकारों ने हुमायूँ के संरक्षण में चित्रण कार्य आरम्भ किया।

हुमायूँ की मृत्यु के बाद अकबर 13 वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में साहित्य, संगीत एवं कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। अपने पिता से भेंट रूप में पाये हुए अब्दुस्समद और मीर सैयद अली जैसे चित्रकारों को उसने पर्याप्त मात्रा में उत्साहित किया। इन दोनों महान कलाकारों ने अकबर की रुचि और नीति के ही अनुसार कला के क्षेत्र में भी सामंजस्य की भावना भर दी।⁵ अकबर के संरक्षण में मुगल कला की विशेष अभिवृद्धि हुई और अनेक चित्रकारों ने प्रसिद्धि प्राप्त की। उसने एक विशाल चित्रशाला की भी स्थापना की। मुगल शैली में प्रायः नारी चित्रण का अभाव है। नारी के जो चित्र प्राप्त होते हैं वे अधिकतर व्यक्ति—चित्र के रूप में ही हैं। जिसका प्रमुख कारण उस समय नारी की हीन स्थिति थी। मुगल कला में चित्रित साधारण नारी भोग्या थी, पूजनीय नहीं। इसी कारण मुगल कलाकारों ने चित्रों में वेश्या तथा नर्तकी का अंकन अधिक किया। मुगल समाज में एक पुरुष का अनेक विवाह करना कानून की दृष्टि में उचित था। अनेक स्त्रियों से हरम को भरना गौरव की बात समझी जाती थी तथा सुरा एवं सुन्दरी में डूबे रहना उनका व्यसन था।⁶ नारी पर्दे में थी जिसके कारण उनके घरेलू जीवन तथा प्रतिदिन के कार्य—कलापों के चित्र बनाना कलाकार के लिए सम्भव नहीं था।⁷ किन्तु फिर भी कुछ चित्र हमें उनके निजी जीवन तथा कुछ रानियों तथा शहजादियों के व्यक्ति चित्र मिले हैं। सम्भवतः मुगल शैली में स्त्री चित्रकार भी होगी और इन स्त्री चित्रकारों ने सम्माननीय नारियों के चित्र हरम में जाकर बनाए होंगे।

भारत कला भवन, वाराणसी में एक चित्र एक नारी चित्रकार का हरम में चित्र बनाते हुए है। इस चित्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मुगल शैली में नारी चित्रकार भी थी। यहीं कारण है कि पर्दे में रहने वाली राजकुमारियों के चित्र भी मुगल शैली में मिल पाते हैं।⁸

अबकर—कालीन मुगल कला में भी प्रायः नारी का स्वतंत्र अंकन नहीं हुआ है। इस काल के चित्रों में विषय प्रधान रूप से राजनैतिक महत्व प्राप्त व्यक्तियों से संबंधित घटनाओं में नारी प्रासंगिक रूप से उसका अंग मात्र बनकर अंकित हुई है। इस समय के ग्रंथों तूतीनामा, रामायण तथा आइन—ए—अकबरी में नारी अंकन देखने को मिलता है। जहाँगीर के समय में निश्चित रूप से स्त्री चित्र भी बनाये गए। अकबर के समय में उसकी माँ हमीदा बानो बेगम की तथा जहाँगीर के समय में नूरजहां की शबीहें तैयार हुईं।⁹

जहाँगीर—कालीन लघुचित्रों में नारी अंकन स्वतंत्र रूप से प्रारम्भ हो गया था। इस समय के चित्रों में राजनैतिक महत्व की नारियों, प्राचीन कथाओं से सम्बन्धित नारी—पात्रों तथा अन्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रिया—कलापों में रत नारियों को रूपायित किया गया है। जहाँगीरकालीन मुगल शैली की सभी विशेषताओं का दृष्टांत 'भारतीय सुन्दरी' शीर्षक चित्र में देखने को मिलता है जो कि भारत कला भवन, वाराणसी में सुरक्षित है और जिस पर राय कृष्णदास जी ने विस्तार से 'कलानिधि' (वर्ष 1, अंक 1, 2005 वि०) में प्रकाश डाला है। इस चित्र में एक सुन्दरी शिवार्चन के लिए, एक हाथ में पुष्पहार और दूसरे हाथ में फूलों की डाली लिए जाती दिखायी गयी है। उसकी अंग—प्रत्यंग की सुघराई और कर्ण, कंठ तथा हाथों में पहनाये गये आभूषण उसके प्रकृत सौन्दर्य को अधिक प्रभावशाली एवं आकर्षक बनाते हैं।¹⁰ इस चित्र में अलंकारिकता के साथ—साथ स्वाभाविक सौन्दर्य भी दर्शित है।

शाहजहाँ—कालीन चित्रकला में भी नारी का अंकन जहाँगीर काल की भाँति ही चलता रहा। इस समय के चित्रों में राजकीय परिवार की नारियों के साथ—साथ अन्य अभिजात एवं मध्यवर्गीय नारियों का भी अंकन हुआ। अभिजात्य वर्ग की नारियों को आवृत के साथ—साथ अनावृत भी अंकित किया गया है। कभी—कभी उनका अति पारदर्शी वस्त्रों में भी अंकन हुआ है। मुगल हरम एवं जनानखाने में रहने वाली यवन सुन्दरियों एवं बेगमों के चित्र इस समय मिलने लगते हैं।¹¹

परवर्ती मुगल चित्रकला, जो औरंगजेब के काल से धीरे—धीरे अपने पतन की ओर अग्रसर होती जा रही थी, में नारी अंकन स्वच्छन्द रूप से होने लगा। मुगल शैली के चित्रों में अन्तःपुर का रूप—सौन्दर्य और विलासपूर्ण जीवन का चित्रण, बादशाहों के आमोद—प्रमोद के लिए दासियों तथा बेगमों की भड़कीली पोशाकें एवं झीने वस्त्रों का रूपांकन अधिकता से पाया जाता है। मुगल शैली के हमें जो नारी चित्र मिलते हैं वे नर्तकियों तथा गणिकाओं के मदिरापान करते या कराते हुए अथवा महफिल में नृत्य करते हुए मिलते हैं।¹² ये वे स्त्रियाँ हैं जो उस समय पुरुष वर्ग के सम्मुख बिना पर्दे के जाती थी एवं जिनसे कलाकार प्रेरणा लेकर चित्र बना सकता था।

मुगलों की धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति का प्रभाव मुगल शैली के चित्रों पर पड़ा जिसने नारी अंकन को सबसे अधिक प्रभावित किया। मुगल कला, मुगल दरबार से घनिष्ठ

रूप से सम्बन्धित थी इसीलिए दरबार में आने वाली नारी अर्थात् नर्तकी तथा वेश्याओं का अंकन ही यहाँ हो पाया। इन नारियों को अधिकतर पेशवाज, चूड़ीदार पाजामा, सिर पर टोपी व पैरों में चप्पल पहने दिखाया गया है। मुगल काल के एक हरम के चित्र में नारी के मुख तथा वस्त्रों पर दक्खिनी प्रभाव है। एक चित्र में नायिका ऊपर खिड़की से झाँक रही है तथा नायक नीचे खड़ा है, दोनों की दृष्टि एक-दूसरे पर है।¹³ लैला-मजनू का चित्र भी मुगल शैली में बना है।¹⁴ एक अन्य चित्र में नारी को चूड़ीदार पाजामा, जूतियाँ, पारदर्शक चुनरी पहने बनाया किया गया है। उसका मुखांकन बहुत बारीकी से किया गया है।

औरंगजेब काल के एक चित्र में शाहजहाँ के सबसे छोटे पुत्र के लिए एक युवती को लाया जा रहा है। रात्रि का दृश्य है, नारियों का पहनावा झीना, पेशवाज, चूड़ीदार पाजामा है तथा उनके बाल खुले हैं।¹⁵ इस प्रकार मुगलकला की नारी यथार्थ रूप से सुन्दर, आकर्षक एवं वास्तविक रूप में अंकित हुई है। मुगल कला में नारी रूप का अंकन कला साधना की दृष्टि से हुआ और उसका उद्देश्य केवल कलाप्रेमियों तथा कलाकारों को सौन्दर्यानुभूति में मग्न करना रहा है। अन्य शैलियों की अपेक्षा मुगल कला में नारी अंकन यद्यपि कम हुआ परन्तु नारी के जितने भी चित्र हमें मिलते हैं वह श्रेष्ठ कलात्मक गुणों से युक्त है तथा प्रायः किसी न किसी कथानक से जुड़े हैं।

संदर्भ सूची

1. अग्रवाल, डॉ० श्याम बिहारी अग्रवाल, भारतीय चित्रकला का इतिहास (मध्यकालीन), रूपशिल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999, पृ०सं० 87
2. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, 1963, पृ०सं० 177
3. अग्रवाल, डॉ० श्याम बिहारी, भारतीय चित्रकला का इतिहास (मध्यकालीन), रूपशिल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999, पृ०सं० 89
4. मार्ग, खण्ड 30, भाग-2, मार्च 1977, पृ०सं० 34
5. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, 1963, पृ०सं० 179
6. गोयट्ज, हरमन, इंडिया फाईव थाउजेण्ड ईयर्स आफ इण्डियन आर्ट, पृ० सं० 226
7. इंडियन मिनियेचर्स ऑफ दि मुगल स्कूल, पृ० सं० 20
8. गोयट्ज, हरमन, इंडिया फाईव थाउजेण्ड ईयर्स ऑफ इंडियन आर्ट, पृ०सं० 214
9. वर्मा, डॉ० अविनाश बहादुर, भारतीय चित्रकला का इतिहास, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 1968, पृ० सं० 150
10. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय चित्रकला, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, 1963, पृ० सं० 182
11. अग्रवाल, डॉ० श्याम बिहारी, भारतीय चित्रकला का इतिहास (मध्यकालीन), रूपशिल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999, पृ०सं० 127
12. मुगल मिनियेचर्स, ललित कला अकादमी, प्लेट - 7
13. इंडियन मिनियेचर्स ऑफ दि मुगल स्कूल, प्लेट-29
14. वही, प्लेट -47
15. इंडियन मिनियेचर्स, न्यूयार्क ग्राफिक सोसायटी

शिवपुरी जिले का राजनैतिक इतिहास (प्रारम्भ से बारहवीं शती ई. तक)

डॉ. जितेन्द्र शर्मा*

भारतीय इतिहास के परिदृश्य में शिवपुरी जिले का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मानव के प्रारम्भिक काल से लेकर आधुनिक काल तक इस क्षेत्र में मानव सम्बंधी क्रियाकलाप अनवरत जारी रहे। इस क्षेत्र पर प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के पुरातात्विक साक्ष्य भी मिलते हैं। वैदिक काल में इस क्षेत्र का नाम निषाध देश था¹ महाभारत के वन पर्व के अनुसार आर्यावर्त में निषाध देश की राजधानी निषाधपुरी थी जहां का राजा नल था महाभारत के वन पर्व के 53 वें अध्याय से लेकर 79 वें अध्याय तक राजा नल का उल्लेख मिलता है। मौर्य काल तक इस क्षेत्र पर राजनैतिक इतिहास क्रमबद्ध रूप से मिलना प्रारम्भ हो जाता है। मौर्य वंश के प्रथम शासक चंद्रगुप्त मौर्य ने इस वंश की नींव रखी। मौर्य काल में शिवपुरी क्षेत्र मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत रहा होगा और संभवतः उज्जैन के प्रान्ताधिपति द्वारा संचालित होता रहा होगा। मौर्य काल के साक्ष्य के रूप में जिले के खनियाधाना तहसील में लगभग डेढ़ किलोमीटर उत्तर पूर्व की ओर हनुमान खो नामक स्थान से मौर्यकालीन पुरा अवशेष प्राप्त होते हैं।² जो इस क्षेत्र में मौर्य कालीन सत्ता को प्रमाणित करते हैं मौर्य काल के उपरान्त यह क्षेत्र शुंग राजवंश के अधीन रहा होगा। इस क्षेत्र में टुण्ड्राभरखा खो नामक स्थान से एक अभिलेख प्राप्त हुआ है।³ जिससे इस क्षेत्र में भागवत धर्म के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त जिले के चोरपुरा (सुभाषपुरा) नामक स्थान से लगभग प्रथम, द्वितीय शती ई. के अभिलेख प्राप्त हैं जो इस क्षेत्र में शुंगकला के प्रमाण प्राप्त करते हैं।⁴

शुंगवंश के उपरान्त इस क्षेत्र पर सातवाहन वंश के प्रभाव इस क्षेत्र पर परिलक्षित नहीं होते, यद्यपि इस क्षेत्र से सातवाहनों के सिक्के प्राप्त मिलते हैं डॉ. आर.के. शर्मा ने इन्हें जनरल ऑफ न्यूमैसमेटिक्स सोसायटी ऑफ इण्डिया में प्रकाशित किया है इनमें नहपान के सिक्कों पर सातवाहन शासक गौतमी पुत्र सतकर्णी के ठप्पों का पुर्न मूल्यांकन है जो यह प्रदर्शित करता है संभवतः इस क्षेत्र में व्यापारिक कारणों से इन सिक्कों का प्रादुर्भाव रहा होगा। शुंगों के उपरान्त इस क्षेत्र पर कुषाण शासकों का शासन स्थापित हुआ विद्वानों की मान्यता है कि इस क्षेत्र पर कुषाणों को राज्य करने के लिए नाग राजाओं से संघर्ष करना पड़ा पुराणों के अनुसार नाग राजवंश से पूर्व इस क्षेत्र पर किसी वनस्पर नामक शासक का उल्लेख मिलता है।⁵ सारनाथ से प्राप्त अभिलेख में वनस्पर को कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष में इस क्षेत्र का गवर्नर बनाया गया था विद्वानों के अनुसार यही वनस्पर ग्वालियर तथा उसके आसपास के क्षेत्रों का भी प्रान्तपति रहा होगा। डॉ. के.पी. जायसवाल वनस्पर का समय 90 ई. से 120 ई. तक मानते हैं। इस प्रकार इस क्षेत्र पर प्रत्यक्ष रूप से कुषाणों का अधिकार न होकर अप्रत्यक्ष रूप से था कुषाणों से पश्चात् नाग राजवंश ने मध्य भारत के एक विस्तृत क्षेत्र पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की। नाग राजवंश की सत्ता का प्रमुख केन्द्र

* प्राचार्य पं. श्यामाचरण उपाध्याय महाविद्यालय, जौरा, खुर्द मुरैना

पद्मावती था। इस राजवंश ने लगभग परवर्ती शुंगकाल से लेकर गुप्त राजवंश के प्रारम्भिक वर्षों तक इस क्षेत्र में शासन किया था। नाग राजवंश की सूचना मुख्यतः उनकी मुद्राओं और साहित्यिक साक्ष्यों से होती है। विष्णु पुराण में उल्लेख मिलता है कि **नवनाग पद्यावत्या, कान्तिपुर्या, मथुराया अनुगंगा, प्रयाग मगधा गुप्तश्च भौक्ष्यन्ति** अर्थात् जब नवनाग पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा पर राज्य कर रहे थे, तब गंगा तट पर स्थित प्रयाग और मगध पर गुप्त राज्य करने लगे। नाग शासक शिव के परम भक्त थे। नागवंश के संबंध में नवनाग और भारशिव दो शब्द मिलते हैं। माना जाता है कि पद्मावती में अपने राजवंश की पुनः स्थापना के कारण ये नवनाग कहलाये। पुराणों में भारशिवों को नाग कहा गया है शिवलिंग को अपने कंधे पर धारण करने के कारण ये भारशिव कहलाये। इनके लिये शिवलिंगोद्धहन शब्द भी मिलता है। पुराणों में भारशिव राजाओं के सम्बंध में उल्लेख है कि कुषाणों के शासन को समाप्त करने के बाद एक भारशिव राजा गंगा के पवित्र जल से अभिषिक्त होकर हिन्दू सम्राट के पद पर प्रतिष्ठित हुआ।⁷

मुद्राशास्त्रीय आधार पर हरिहर त्रिवेदी का मत है कि नागों की सत्ता प्रथमतः विदिशा से प्रारम्भ हुई और कालान्तर में वे विदिशा से उत्तर की ओर पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा तक फैल गये। संभवतः शुंग अथवा सातवाहनों ने नागों को विदिशा से खदेड़ दिया होगा। मोहनलाल शर्मा का मत है कि पवाया से प्राप्त मणिभद्र यक्ष की प्रतिमा पर उत्कीर्ण अभिलेख में वर्णित शिवनन्दी नामक शासक इस वंश का विदिशा का अंतिम शासक था तत्पश्चात् नागों ने नवनाग अथवा भारशिव वंश के रूप में पद्मावती को अपना केन्द्र बिन्दु बनाया। वृषनाग को पद्मावती पर भारशिव वंश का संस्थापक का संस्थापक शासक माना जाता है इसने प्रथम शती ई. के लगभग मध्य में शासन किया था वृषनाग के पश्चात् क्रमशः व्याघ्रनाग, विभुनाग, वसुनाग, वीरसेन, स्कन्दनाग, भीमनाग, वृहस्पतिनाग, देवेन्द्रनाग, प्रभानाग, रविनाग, भवनाग और गणपतिनाग नामक राजाओं ने शासन किया था। चतुर्थ शती ई. के लगभग मध्य में नाग राजवंश का पतन हो गया और ये गुप्त राजवंश के अधीन इस क्षेत्र में शासन करने लगे। इसकी सूचना गुप्त शासक समुद्रगुप्त की प्रयाग (इलाहबाद) प्रशस्ति से मिलती है। इसमें समुद्रगुप्त द्वारा पराजित आर्यावर्त के राजाओं की सूची में नासेन, नागदत्त एवं गणपतिनाग को विद्वानों ने नागवंश का शासक माना है। गणपतिनाग ही नाग राजवंश का अंतिम शासक था, जिसे परास्त कर गुप्तों ने सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपनी अधिसत्ता स्थापित की नागों के वाकाटक एवं गुप्त राजवंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी थे। चूंकि पद्मावती (वर्तमान पवाया) इस समय नागों के राज्य का केन्द्र बिन्दु था एवं वर्तमान शिवपुरी जिले के नरवर के निकट था व शिवपुरी जिले के नरवर (प्राचीन नलपुर) से नागशासक व्याघ्रनाग, देवेन्द्रनाग व गणपतिनाग की मुद्राओं का पाया जाना शिवपुरी जिले पर नाग शासकों के आधिपत्य को दर्शाता है।⁸

चतुर्थ शती ई. के प्रारम्भ में भारतीय राजनीतिक इतिहास में गुप्त राजवंश का अभ्युदय हुआ। इस राजवंश ने सम्पूर्ण भारतवर्ष में एकछत्र साम्राज्य की स्थापना की इस राजवंश का संस्थापक शासक श्रीगुप्त था। तदुपरान्त उसका पुत्र घटोत्कच शासक हुआ। 322 ई. के लगभग घटोत्कच का प्रतापी पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम सिंहासनारूढ़ हुआ। 340 ई. के लगभग चन्द्रगुप्त प्रथम का महाप्रतापी पुत्र समुद्रगुप्त राजा बना। उसकी प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता

है कि उसने लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष पर गुप्त राजवंश की विजय पताका फहराई। समुद्रगुप्त के पश्चात् क्रमशः कांच, रामगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमार गुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त राजा बने। इनके उपरान्त इस राजवंश का पतन प्रारम्भ हो गया।

इस समय भी शिवपुरी जिला गुप्तों के अधीन रहा था। विवेच्य क्षेत्र के कुण्डलपुर से गुप्तकालीन मंदिर⁹ व सेसई से गुप्त लिपि में उत्तीर्ण स्मारक स्तम्भ लेख मिला है, जिनसे विवेच्य क्षेत्र में गुप्तों की सूचना प्राप्त होती है। पांचवीं शती के अंतिम दशक में मध्य भारत पर हूण राजवंश के आक्रमण प्रारम्भ हुये और इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया ग्वालियर दुर्ग से उसके राज्यकाल का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिसमें मातृकुल के प्रपोत्र मातृचेट द्वारा गोप पर्वत पर सूर्य मंदिर के निर्माण का उल्लेख है। चूंकि शिवपुरी क्षेत्र उस समय मध्यभारत का भाग था अतः सह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र पर हूणों का आधिपत्य था।

हूणों के उपरांत यह क्षेत्र गुर्जर प्रतिहार राजवंश के अधीन आ गया जिन्होंने इस क्षेत्र में शैव धर्म से सम्बंधित अनेक मंदिर एवं मठों का निर्माण कराया। गुर्जर प्रतिहार राजवंश के पतनोपरान्त 950 ई. के लगभग ग्वालियर क्षेत्र में कच्छपघात राजवंश न अपनी सत्ता स्थापित की। इस राजवंश की तीन प्रमुख शाखाएँ इस क्षेत्र में शासन कर रही थीं—

1. ग्वालियर—सिंहौनिया शाखा,
2. डोबकुण्ड (दूबकुण्ड) शाखा,
3. नरवर शाखा,

तीनों ही शाखाएँ अपने आप को कच्छपघात कहती हैं, किन्तु इनका परस्पर सम्बंध अज्ञात है अनुश्रुतियों के अनुसार, कच्छपघात जाति उत्तरी कोशल के राजा दाशरथ राम के पुत्र कुश की वंशज थी। वहाँ से चलकर उन्होंने सोन नदी के किनारे रोहतास दुर्ग का निर्माण किया। वहाँ से इनकी एकशाखा नरवर की ओर आ गई इस शाखा के प्रथम राजा नल ने वि. सं. 351 (294 ई.) में नरवरगढ़ बसाया।¹⁰ किन्तु इस सम्बंध में पुरातात्विक साक्ष्यों का अभाव है। इन तीनों शाखाओं में प्राचीनतम ग्वालियर की शाखा थी और वंशावली क्रम की दृष्टि से भी अपेक्षाकृत बड़ी थी। प्रारम्भ में ये गुर्जर— प्रतिहारों के सामन्त थे। किन्तु उनके निर्बल होते ही उन्होंने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी।

तत्कालीन समय में शिवपुरी जिले में कच्छपघातों की नरवर शाखा शासन कर रही थी इस शाखा की सूचना का एक मात्र स्रोत वि.सं. 1177 (1120 ई.) का एक ताम्रपत्र लेख है। यह ताम्रपत्र इस वंश के अंतिम शासक वीरसिंह के स्वहस्त से जारी किया गया था। इसमें बबाड नामक ग्राम दान में दिये जाने की चर्चा है। इस अभिलेख में इस राजवंश की निम्न वंशावली मिलती है—

1. गगनसिंह (1075—1090 ई.)
2. शरदसिंह (1090—1105 ई.)
3. और वीरसिंह (1105—1125 ई.)

इस अभिलेख में गगनसिंह के लिए महाराजाधिराज, परमेश्वर एवं शरद सिंह के लिए प्रबल परमभट्टारक महाराजाधिराज विरुद्ध का प्रयोग हुआ है। इससे अधि कइस राजवंश

की सूचना उपलब्ध नहीं है कि गगनसिंह के पहले व वीरसिंह के बाद कच्छपघातों की इस शाखा में कोई शासक हुआ था या नहीं।

शिवपुरी से वि.सं. 1106 का विजय पाल कच्छपघात का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है¹¹ जिसमें इसके द्वारा एक वैष्णव मंदिर बनवाये जाने का उल्लेख है यह विजयपाल कौन था? इसका शासन कब से कब तक था? इसके विषय में अभिलेख में स्पष्ट नहीं है। अतः इस कच्छपघात शासक को कच्छपघातों की नरवर शाखा से जोड़ना संभव नहीं होगा।

लगभग दसवीं शती ई. के अन्त से लेकर तेरहवीं शती ई. तक के परवर्ती—प्रतिहार राजवंश के कुछ अभिलेख शिवपुरी से प्राप्त हुए हैं। इनसे प्रती है कि यह प्रतिहार वंश गुर्जर—प्रतिहार राजवंश की मूल शाखा से संबंधित रहा होगा और उनके समय में इस वंश के शासक इस क्षेत्र में सामंत रहे होंगे। उनके पतनोपरान्त इन्होंने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी होगी अभिलेखिय साक्ष्यों के आधार पर शिवपुरी जिले में परवर्ती—प्रतिहार राजवंश की दो शाखाओं के उल्लेख मिलते हैं किन्तु आपस में इनका संबंध अज्ञात है।

प्रथम शाखा से संबंधित वि.सं. 1122 का एक अभिलेख पचराई से प्राप्त हुआ है।¹² यह अभिलेख प्रतिहार रणपाल के शासनकाल का उल्लेख करता है। इसमें रणपाल को भीम का पुत्र और हरिराज का प्रपौत्र कहा गया है।

प्रतिहार राजवंश की सम्पूर्ण वंशावली चंदेरी (जिला अशोकनगर) से प्राप्त लगभग 13 शती ई. के एक अभिलेख से प्राप्त होती है, जो इस प्रकार है— नीलकण्ठ, हरिराज, भीमदेव, राणपाल, वत्सराज, स्वर्णपाल, अभयपाल, गोविन्दराज, राजराज, वीराज और जैत्रवर्मन। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि नीलकण्ठ इस राजवंश का संस्थापक शासक था और जैत्रवर्मन अंतिम। इसके उपरान्त इस राजवंश की कोई भी सूचना उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार इस राजवंश के तीन शासकों के विषय में प्रत्यक्ष सूचना उपलब्ध है। प्रतिहार जैत्रवर्मन इस राजवंश का अंतिम शासक था। सम्भवतः 1309 ई. में अलाउद्दीन खिलजी ने इस राजवंश को नष्ट कर दिया हो।

द्वितीय शाखा से संबंधित अभिलेख कुरैथा नामक ग्राम हुए हैं। यहाँ से प्रतिहार शासक मलयवर्मन और नरवर्मन के क्रमशः वि.सं. 1277 (1220 ई.) और वि.सं. 1304 (1284) के दो ताम्रपत्र लेख प्राप्त हुए हैं।¹³ इनमें इस वंश की वंशावली इस प्रकार मिलती है— नटुल, प्रताप सिंह, विग्रहराज, मलयवर्मन और नरवर्मन। वि.सं. 1277 के ताम्रपत्र लेख से ज्ञात होता है कि मलयवर्मन के पिता विग्रहराज ने मलेच्छों के प्रमुख नेता का वध कर दिया था।

विग्रहराज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी मलयवर्मन था। वि.सं. 1277 का ताम्रपत्र लेख मलयवर्मन के द्वारा वत्स एवं हरिपाल नामक ब्राह्मणों को ग्रामदान 8 में दिये जाने का उल्लेख करता है इस अभिलेख का कथन है कि मलयवर्मन ने गोपगिरि (ग्वालियर दुर्ग) को हस्तगत कर लिया था लेकिन किससे? इस विषय में अभिलेख मौन है। इसकी पुष्टि नरवर्मन की वि.सं. 1270 (1223 ई.) से वि.सं. 1290 (1233 ई.) के बीच की मुद्राएँ नरवर से प्राप्त हुई हैं।¹⁴

मलयवर्मन के पश्चात् उसका छोटा भाई नरवर्मन राजा बना। वि.सं. 1304 का ताम्रपत्र लेख नरवर्मन द्वारा गोंड संप्रदाय के वत्स नामक व्यक्ति को ग्राम दान का उल्लेख करता है। इसमें नरवर्मन का विरुद्ध महाराज मिलता है। तदुपरान्त इस राजवंश की कोई सूचना उपलब्ध नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मलयवर्मन ने 1220 से 1274 ई. तक या उसके कुछ समय पूर्व तक शासन किया होगा तथा 1274 ई. में उसका भाई नरवर्मन राजा बना। इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर बारहवीं शती ई. तक शिवपुरी जिले में निरंतर राजनैतिक बदलावों के बीच संस्कृतियों का विकास देखने को मिलता है।

संदर्भ सूची

1. महाभारत, वनपर्व अध्याय— 13
2. डॉ.योगेश यादव, उत्तरी मध्यप्रदेश का भौतिक तथा सांस्कृतिक जीवन, अप्रकाशित शोधग्रंथ पृ. 79
3. वाजपेयी के.डी. इम्पेक्ट ऑफ वैष्णिज्म इन द आर्ट ऑफ सेन्ट्रल इंडिया पृ. 323
4. आई.ए.आर. 1976 पृ. 79
5. जनरल ऑफ न्यूमिसमेटिक्स सोसायटी ऑफ इण्डिया भाग 17 पृ. 89
6. जायसवाल के.पी. अन्धकार युगीन भारत पृ. 76
7. शर्मा मोहनलाल—पद्मावती पृ. 25
8. शर्मा आर.के. — आर्ट आर्कियोलॉजी एण्ड लिटरेचर इन सेन्ट्रल इण्डिया भाग 2 पृ. 394
9. वही पूर्वोक्त पृ. 396
10. राय.एच.सी. — द डायनेमिक हिस्ट्री ऑफ नोर्डन इण्डिया भाग 2 पृ. 821
11. बिलिस माइकल डी — इन्सक्रिप्सन ऑफ गोप क्षेत्र पृ. 4—5
12. द्विवेदी हरिहर निवास ग्वालियर राज्य के अभिलेख पृ. 45
13. शर्मा आर.के. — आर्ट आर्कियोलॉजी एण्ड लिटरेचर इन सेन्ट्रल इण्डिया भाग 1 पृ. 303
14. कनिंघम द आर्कियोलॉजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिव्यू भाग 2 पृ. 314

राष्ट्रवादी कलाकार — यामिनी राय का चित्रांकन

डॉ. संगीता अग्रवाल*

सारांश

राष्ट्रवादी कलाकार यामिनी राय भारत के पिकासों कहे जाते थे। उनके चित्रांकन में भारत की आत्मा की संवेदना है; निजस्व है तो लोक जीवन के परिप्रेक्ष्य में बने उनके चित्रों में संथालों एवं कुम्भकारों, आदिवासी आदि की संवेदनाओं के दर्शन होते हैं। 'बाल सुलभ कला' से प्रेरित उनके चित्रों में चंचलता, सरलता तथा चटख रंगों का समावेश है। मौलिक प्रभाव लिए मूलतः भारतीय लोक शैली के विविध स्वरूपों का अतुलनीय खजाना है। घरेलू सामग्री के उपयोग से रंगों को निर्मित कर वे चित्रों में प्रयोग करते थे। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त यामिनी राय ने देश-विदेशों में अपने चित्रों की प्रदर्शनी दी। अतः कला को समर्पित यामिनी राय का भारतीय कला में अद्वितीय स्थान है। ऐसे लोक जीवन से जुड़े हुए चित्रकार की तूलिका से प्रेरणा लेकर आधुनिक युग का कमर्शियल चित्रकार यदि अपने क्षेत्र विशेष की जीवन शैली और संस्कृति को अपने चित्रों का विषय बनाता है तो वह निश्चित ही राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर लाभकारी सिद्ध होगा। यही शोध का सार है।

यामिनी राय का चित्रांकन एवं लोक जीवन : भारत का पिकासो कहे जाने वाले कलाकार यामिनी राय निरन्तर नूतन खोज में रत् विशाल वृक्ष की शाखाओं तले, कला-साधना को दिन-चर्या मानने वाले धीर, गम्भीर, संवेदनशील व्यक्तित्व वाले कलाकार भारतीय कला जगत में ऐसे स्तम्भ हैं, जिसकी प्रत्येक कलाकृति में भारतीय आत्मा की अनुभूति साकार होती है। 15 अप्रैल 1887 ई. में पश्चिम बंगाल के बाँकुरा क्षेत्र में बेलियातोड़ ग्राम में जन्में यामिनी राय एक जमीनदार के पुत्र थे। इनका पूरा नाम यामिनीरंजन राय था। बाल्यावस्था से ही उन्हें कला में रुचि थी। अपने ग्राम बाँकुरा के शिल्पियों से वह मुख्यतः प्रभावित थे।

उद्देश्य: यामिनी राय की कल्पना की उड़ान बहुत तीव्र थी और वह उसी प्रकार की स्वच्छंद रचना करना चाहते थे, जिससे उन्हें सृजनात्मक सुख प्राप्त हो सके, जहाँ स्वयं अभिव्यक्ति का विस्तृत गगन हो। अतः उन्होंने चित्रण के लिए बंगाल के संवेदनशील आदिवासी लोक जीवन एवं देहाती गुड़ियों, खिलौने आदि में अपने विषयों को खोजा। चित्र बनाने का प्रमुख उद्देश्य लोक कलाकारों, संथालों एवं कुम्भकारों की संवेदनाओं को करीब से अनुभव किया और इसी अनुभव के दौरान वह काली घाट के पदुआ कलाकारों के भी सम्पर्क में आये, जिनकी कला शैली ने विशेष रूप से उन्हें प्रभावित किया। दूसरे लोक जीवन को चित्रित करने का उनका उद्देश्य यह था कि इस प्रकार की लोक प्रथाओं से सभी को अंचलों से परिचित कराया जाए, जहाँ भारत की संवेदना है, आत्मा है, निजस्व है।

ऐसे लोक जीवन से जुड़े हुए चित्रकार की तूलिका से प्रेरणा लेकर आधुनिक युग का कमर्शियल चित्रकार यदि अपने क्षेत्र विशेष की जीवन शैली और संस्कृति को अपने चित्रों का विषय बनाता है तो वह निश्चित ही राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर लाभकारी सिद्ध होगा। इस शोध का उद्देश्य इसी भावना से ओत-प्रोत है।

* सहायक प्राध्यापक, स्नातकोत्तर चित्रकला विभाग, माधव महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

भारतीय कला के पैगम्बर कहे जाने वाले राष्ट्रवादी कलाकार यामिनी राय ने पौराणिक एवं लोक जीवन की झाँकी को दर्शाने के लिए चित्रों के माध्यम से की गयी राष्ट्र सेवा को निम्नांकित बिंदुओं के तहत अध्ययन किया गया है।

चित्रण के विषय : यामिनी राय के चित्रण की विषय वस्तु वैष्णव कथानकों, राधा—कृष्ण लीला, रामायण के प्रसंगों, देवी—देवताओं, अनेक धर्म—संप्रदाय के लोगों आदि से आरंभ होकर उस पूरे ग्राम्य परिवेश को समेटे हुए थी, जिसमें किसान, कम्हार, लुहार, बढई से लेकर संधाल मल्ल, आदिवासी, मुस्लिम फकीर वैष्णव संत, गायक, कीर्तन मण्डली एवं उस परिवेश के प्रत्येक नर—नारी शामिल थे। इसके अलावा उन्होंने “पशु—पक्षियों, शेर, हाथी, घोड़ा, बिल्लियाँ, चिड़ियाँ, मोर, कबूतर, मछली, घोंघे और काष्ठ व मिट्टी की गुड़िया आदि को भी अपने चित्रों का विषय बनाया। उनके चित्रों में नारी रूप प्रधान थे।”¹

चित्रों की विशेषताएँ : मुख्य रूप उनके चित्र ‘चाइल्ड आर्ट’ की भाँति दर्शित होते हैं क्योंकि चित्रों में बाल—सुलभता, चंचलता, सरलता तथा चटख रंगों का समावेश है। यह बाल सुलभ प्रवृत्ति उनकी कला का मूल भी है, जिसे स्वयं कलाकार ने इन शब्दों में स्वीकार किया है। “मैं बालक सुलभ कला से प्रेरित हूँ।”²

विशेषतः उन्होंने छः या सात रंगों का प्रयोग अधिक किया, जिसमें लाल, नीला, हरा, पीला, सिंदूरी, भूरा आदि हैं। ये रंग सपाट हैं, किंतु सुदृढ़ रूपाकारों को स्पष्ट करने में समृद्ध है इस प्रकार स्पष्ट है कि यामिनी राय के चित्रों का मुख्य आधार संपुष्ट तूलिका आघात, वर्तुलाकार रेखांकन है। “उनकी शैली ने अपने प्रभाव से अनेक कलाकारों को उस दिशा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी।”³ यामिनी राय ने पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति एवं कला की कोरी नकल के स्थान पर बंगाल के लोक जीवन की संवेदनशील अभिव्यक्ति की हैं। इस शैली से प्रेरित होकर उन्होंने न केवल कागज अथवा धूलि, बोर्ड, भित्ति, ताड़ पत्तियों, प्लास्टिक के आकारों कपड़ा आदि विविध आधारों पर चित्रण कार्य किया।

अतः उनके चित्रों में एक मौलिकता है और अछूतापन जो मूलतः भारतीय है। स्पष्ट है कि यामिनी राय ने अपनी सृजनात्मकता प्रतिभा उच्च कल्पना तथा पर्यवेक्षण क्षमता से उसे नयी लोक शैली में विकसित किया। इन चित्रों में जीवन के विविध विषयों एवं पौराणिक प्रसंगों को स्थान दिया, जो उनके जीवन के गहन अनुभव का अतुलनीय खजाना हैं। उन्हें कला में व्यावसायिकता पसंद नहीं थी। इस संदर्भ में वे कहते थे कि “तस्वीर का पैसा जब कोई मुझे देता है तो मैं समझता हूँ कि यह मेरी सजा है।”⁴

रेखा, रंग संगति एवं माध्यम : यामिनी राय ने लोक चित्रों में प्रायः कीमती रंगों की अपेक्षा घरेलू रंग सामग्री का उपयोग चित्रण में किया है। इस प्रयोग पर भी उनकी स्वीकारोक्ति मिलती है कि “उन्होंने गहरे रंग विधान को अपनाया।”⁵

मुख्य रूप से रंग—संगति के प्रयोग में उन्होंने खड़िया, मिट्टी, इमली, गेरू, सिंदूर, काकखोरी, रामरज, हींगुल, गोंद, नील, काजल आदि के द्वारा रंग—संयोजन की एक नयी विधि का निर्माण किया। रंगों के बंधकत्व के रूप में अण्डा तथा इमली के बीज व गोंद का

प्रयोग किया। इन रंगों को यामिनी राय ने अपमिश्रित तान में प्राथमिक रूप लगा कर काली लयात्मक रेखाओं से बाहरी रेखांकन किया।

विशेष रूप से चित्रांकन में उन्होंने टेम्परा रंग, जल रंग तथा रंगों में मुख्य रूप से लाल, सफेद व ग्रे रंगों का बहुतायत में प्रयोग किया। उन्होंने कृति को आकर्षक बनाने के लिए चमकदार रंगों का प्रयोग किया है। वे अपनी कृतियों में आँख के लिए संफेद रंग एवं प्रकाश के प्रभाव को दर्शाने के लिए पीला रंग प्रयोग करते थे। अतः उनकी कृतियाँ रेखा, भावना और रंग—प्रधान मानी जाती है। चित्र की बाह्य रेखांकन में वे काले रंग का प्रयोग करते थे। यामिनी राय खनिज रंगों का प्रयोग करते थे, जिन्हें वे स्वयं खड़िया, काजल, नील, गेरू, हिरौंजी, सिंदूर, गंगा की चिकनी मिट्टी आदि से तैयार करते थे। इन रंगों का पकड़ मजबूत करने के लिए वे इन रंगों में इमली के बीज से बनी अथवा शिरीष से बनी गोंद मिलाकर या अंडे की सफेदी को मिलाकर उपयोग करते थे। रंगों के संदर्भ में वे कहते थे कि— “रंगों का शौक मुझे बचपन से ही रहा है.....रंगों के प्रति मेरी आसक्ति इतनी तीव्र थी कि जब भी किसी काम से बाजार की ओर भेजा जाता तो मेरे पाँव सबसे पहले मुझे रंगसाज की दुकान पर ले जाते थे और मैं घंटों सुध—बुध खोए रंगों के साथ उनका उलझना देखता रहता।”⁶

चित्र संग्रह एवं प्रदर्शनी : यामिनी राय के चित्रों की प्रदर्शनी, ललित कला ऐकेडमी, नई दिल्ली में भी लगी एवं उनकी कृति ‘नीला बालक’, ‘गोपिनी’, ‘चीता पर सवार रानी’ एवं अनेक रेखांकन राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय नई दिल्ली में संग्रहित है। सन् 1956 में यूनेस्को में 28 वीं अन्तर्राष्ट्रीय चित्र प्रदर्शनी में उनके चित्रों की अत्यधिक प्रशंसा हुई। उनके अनेक चित्र व रेखांकन एस. के. बनर्जी के संरक्षण में संग्रहित है। आपके चित्रों की एकल प्रदर्शनी कोलकाता, लंदन व न्यूयार्क में आयोजित हुई। आपके चित्र नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट, नई दिल्ली, इण्डियन म्यूजियम कोलकाता, चित्रकूट आर्ट गैलरी कोलकाता तथा न्यूयार्क आदि में संग्रहित है। अतः यह कहना उचित होगा कि यामिनी राय ने अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनियों में भाग लिया, जहाँ उनके चित्रण कार्य की सराहना हुई।

निष्कर्ष : अन्ततः यामिनी राय ने अथक परिश्रम कर अपने देश एवं दुनिया के कलाकारों में सर्वोच्च स्थान अर्जित कर भारतीय कला को गौरवान्वित किया है। 20 वीं शताब्दी के कलाकारों की श्रेणी में आने वाले बहु मुखी प्रतिभा के धनी यामिनी राय सन् 1972 ई. में इस दुनिया से विलीन हुए।

संदर्भ :

1. समकालीन भारतीय कला, पत्रिका, नवम्बर 1986/मई 1987, ललित कला ऐकेडमी, नई दिल्ली, पृ. 9
2. वर्मा अविनाश बहादूर, भारतीय चित्रकला का इतिहास, 1984, बरेली, पृ. 292
3. चंद्रगुप्त जगदीश, 1961, भारतीय कला के पद चिन्ह, दिल्ली, पृ. 31
4. गुर्दू शचीरानी, राय यामिनी, 15 मई 1987, प्रदर्शनी, राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय, नई दिल्ली, पृ. 77
5. राय यामिनी, 15 मई 1987, पत्रिका शताब्दी प्रदर्शनी, राष्ट्रीय कला संग्रहालय, नई दिल्ली।
6. वही, पृ. 35

ललित कला सम्बन्धी तकनीकी शब्दावली और भाषा का प्रयोग

डॉ. अलका आर्य*

प्रगतिशील जनमानस की भाषा भी उन्नतशील और निर्माणशाली होती है। जनमानस का शब्द भण्डार ही उसके सम्पूर्ण मानसिक और सांस्कृतिक विकास की आधारशिला है। यदि हम किसी विकसित भाषा का देखें तो हमें उसमें दो प्रकार की शब्दावली मिलेगी, एक तो वह शब्दावली होगी जो जनसाधारण की बोलचाल में प्रयुक्त होगी अर्थात् जीवन के हर क्षेत्र में काम आती है। दूसरी वह है जिसका प्रयोग सीमित है, अर्थात् प्रशासन, विधि, राजनीति तथा ललित कलाएं इत्यादि। अतः किसी विषय के अन्तर्गत उसकी शैली व्यवहार इत्यादि को निर्दिष्ट करने हेतु प्रयुक्त किये जाने वाले विशिष्ट शब्दों, जिसे उस विषय के विद्वान अथवा विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं, को तकनीकी शब्दावली कहा जाता है।¹

हमारी तकनीकी शब्दावली का उद्गम स्रोत हिन्दी के साथ-साथ विदेशी भाषाओं में भी निहित है। आज हम अंग्रेजी के शब्दों को सुनने व समझने के अभ्यस्त हो गये हैं। आज वह एक तरह से हममें रम गयी हैं और हम कोई कठिनाई अनुभव नहीं करते हैं, किन्तु खेद का विषय यह है कि हिन्दी भाषी होने पर भी हमें कुछ शब्द कर्णकटु लगते हैं और हम उन्हें समझ नहीं पाते और न ही समझने का प्रयास करते हैं। यह बात जरा सोचने वाली है कि कितने वर्षों की साधना और श्रम के उपरान्त अंग्रेजी के साथ यह बात आ पायी है, जबकि हिन्दी के लिए हम अपना कुछ भी समय नहीं देना चाहते। वास्तव में विदेशी शब्दों को समझने के लिए अथवा उनकी व्याख्या करने के लिए हमें विदेशी साहित्य पर आश्रित होना पड़ता है। यहाँ यह कहना अनुचित प्रतीत होता है कि दूसरी विदेशी भाषाओं के शब्द उधार लेने से पहले हम अपने ही शब्द भण्डार का उपयोग क्यों न करें? हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है और उसका प्रयोग सभी प्रान्तों में होगा, अतः उन प्रान्तों में प्रचलित शब्दों को भी उचित स्थान दिया जाना चाहिए। राष्ट्रभाषा हमारी संस्कृति की परिचायक है, अतः इसकी शब्दावली ऐसी हो जिसे भारत वर्ष के प्रत्येक प्रान्त में आसानी से समझा जा सकें। वस्तुतः हमें अपनी भाषा को प्रशासन, विधि, विज्ञान और कला आदि की ओर मोड़ना है और हिन्दी को इन विषयों के लिये प्रयुक्त करना है। किसी भी विषय में शब्दकोष तो बन सकते हैं, किन्तु शब्दों के अभाव की पूर्ति कैसे हो? वे तकनीकी शब्द कहाँ से प्राप्त किये जायें, जिन्हें हम सरलता से और निश्चित रूप से प्रयुक्त कर सकें!² पारिभाषिक शब्दों को सुनने और गढ़ने में बहुत ही बुद्धिमानी की आवश्यकता होती है। वास्तविक कठिनाई इनके पर्यायों के निर्धारण में है। कुछ विद्वानों का मत है कि पारिभाषिक शब्द सरल और सुबोध हो, जिन्हें सरलता से समझा जा सकें। परन्तु उन्हें यह बात जान लेनी चाहिए कि उनकी यह बात केवल बोल-चाल की भाषा के लिए ही उपयुक्त है, तकनीकी भाषा के लिए नहीं! तकनीकी भाषा सदा बोलचाल की भाषा से अलग रही है, अतः इसकी शब्दावली भी विशिष्ट ही होगी। सम्बन्धित विषयों में रुचि होने

* असि. प्रो. अध्यक्षा—चित्रकला विभाग, एस.एस.डी.पी.जी. गर्ल्स कॉलेज, रूडकी (हरिद्वार)

पर ये अपने आप समझ में आने लगेंगे। उदाहरण के लिए ललित कला की भाषा जनसाधारण की भाषा नहीं होगी। इसे ललित कला के विद्यार्थी तथा कलाकार ही समझ सकेंगे।

पारिभाषिक शब्द अपने विषय के आधार स्तम्भ होते हैं, जिसके आधार पर उस विषय को समझा जा सकता है। शब्द निर्माण एक गहन कार्य है जिसका हल धीरे-धीरे किया जा रहा है और नये-नये शब्द हमारी भाषा में आते जा रहें हैं। कुछ अन्य भाषाओं के शब्दों का सम्पूर्ण हिन्दीकरण हो गया है और उनका प्रयोग भी सरलता से होता चला आ रहा है। वास्तविकता तो यह कि शब्द विदेशी तभी तक रहते हैं, जब तक कि उनका प्रयोग देशी भाषा में न हो। जैसे ही उनका प्रयोग देशी भाषा में होने लगता है वैसे ही अपने हो जाते हैं। केवल व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में ही उनके प्रारम्भिक रूप की ओर संकेत किया जाता है। वास्तव में दूसरी भाषा में शब्दों का अपनी भाषा में व्यवहारतः प्रवेश भाषा के भाग्य के समुदय का कारण होता है और उसे समृद्ध करता है। अतः भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें अन्य भाषाओं के नये-नये शब्दों का समावेश होता रहे, किन्तु भाषा की विशिष्टता बनाए रखने के लिए उन शब्दों का अनुपात कम रहें और उनका प्रयोग इस ढंग से हो कि वे शब्द अपनी विशिष्टता को छोड़ हमारी भाषा में मिल जायें। अंग्रेजी भाषा में कला के अत्यधिक प्रचलित विविध शब्दों के निकटतम अर्थ देने वाले हिन्दी पर्यायों को प्रस्तुत करने का प्रयास करना चाहिये, जिससे विद्यार्थियों को विषय की अधिक से अधिक जानकारी सरलता से प्राप्त हो सके। यद्यपि कुछ शब्दों का हिन्दी पर्याय अपेक्षाकृत जटिल और विचित्र लगने वाला हो सकता है, किन्तु प्रचलन में आने के पश्चात् इन्हें स्वीकृति मिल जाये।³

पारिभाषिक शब्दावली को गढ़ने और चुनने में संक्षिप्तता तथा सुबोधता व सरलता का ध्यान रखना चाहिए, किन्तु इस पर इतना अधिक जोर न दिया जाये कि अर्थ के बदले अनर्थ होने की सम्भावना हो। अतः किसी भी विषय की पारिभाषिक शब्दावली में कम से कम निम्नलिखित गुण होने चाहिए—

1. पारिभाषिक शब्द के समानार्थी कम से कम हो जिससे उसके अर्थग्रहण में भ्रम न हो।
2. इस प्रकार का कोई भी शब्द न तो बहुत व्यापक हो और न ही अति संकुचित।
3. प्रत्येक शब्द की परिभाषा निश्चित हो और वह निश्चित अर्थ में प्रयुक्त हो।
4. उसका उच्चारण सरल हो।
5. विशेष क्षेत्र में यह शब्दावली व्यापकता प्राप्त करें और उसका प्रचार हो।
6. इस शब्दावली को अपने विषय का प्रतीक भी होना चाहिए।

इन गुणों से युक्त भाषा के प्रयोग से युक्त भाषा के प्रयोग से उसके अर्थ में भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहेगी। इससे शब्द भण्डार भी सीमित रहेगा और विशिष्ट अर्थ भी मिलता रहेगा।

हमारी कला संस्कृति और साहित्य से जुड़े विषयों के पारिभाषिक शब्दों की पूर्ति संस्कृत के माध्यम से सरलता से की जा सकती है। प्राचीन चित्रकला तथा मूर्तिकला सम्बन्धी साहित्य में अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनकी संस्कृत, पाली आदि भाषाओं में

चर्चा हुई है। किन्तु आधुनिक युग में इस प्रकार के मौलिक ग्रंथों की बहुत बड़ी कमी है! ऐसा कोई ग्रंथ नहीं जो विश्व की अन्य भाषाओं से टक्कर ले सकें। जो है भी, वे सब अंग्रेजी में हैं अथवा विदेशी लेखकों के लिखे हुए हैं। भारतीय कलाकारों तथा कलाप्रिय जनता को यह बात सदैव खटकती रहेगी। बौद्धयुग को हम भारत का स्वर्णयुग कहते हैं, उस समय का साहित्य, कला, शिल्प कौशल अपनी चरमसीमा तक पहुँच चुका था। उस समय के हमारे शिल्पाचार्यों, कला के प्रकाण्ड पंडितों ने संस्कृत, पाली के ग्रन्थों में चित्रकला की जो मीमांसा की है, उसमें चित्रकला सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का भण्डार भरा पड़ा है। यदि हम इनका हिन्दी भाषा में संकलन करें, तो एक महान शब्दकोश का निर्माण कर अपनी कलानिधि का संरक्षण भी कर सकते हैं।

बौद्धयुग के संस्कृत, पाली ग्रन्थों में चित्रकला को 'चित्रकर्म', 'चित्रलेख' तथा 'चित्रालेख' कहा गया है। ये शब्द अंग्रेजी के 'फाइन आर्ट' शब्द के अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। ललित कला शब्द पाली भाषा की देन है, इसी प्रकार शिल्पी शब्द भी ललित कलाओं वाले व्यक्तियों जैसे नृत्यकार, गायक, मूर्तिकार तथा चित्रकार के लिए प्रयोग होता था। 'चित्रकार' हेतु 'चित्राचारी', 'शिल्पाचार्य', 'चित्रविद्योपाध्याय' व 'निपुण चित्रकार' इत्यादि पारिभाषिक शब्द प्राप्त होते हैं। हिन्दी में 'चित्रकार', 'कलाकार', बंगला में 'रूपदक्ष', 'रूपकार', उर्दू में 'मुसव्विर' आदि समानार्थक शब्द हैं। जिस एकांत स्थान में बैठकर चित्रकार चित्र बनाता था, उसे रघुवंश में 'चित्रवीथी', 'चित्रशाला' तथा 'चित्रशालिका' कहा गया है। इसी तरह मूर्तिकार के लिये उर्दू का 'फनकार', हिन्दी का 'शिल्पी' तथा अंग्रेजी का 'स्कल्पटर' शब्द समानार्थक हैं। चित्र को मूर्त रूप देने वाली चित्रकारों की उंगलियों पर नाचने वाली प्यारी सहचरी, संगिनी को संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में 'कूची', 'कलम', 'तूलिका' तथा 'आलेख' कहते थे। चित्रकार के मन में उपजने वाले भाव को प्रथम रूप देने वाली वस्तु को 'वर्तिका' कहते थे। अंग्रेजी में इसे 'ब्लैक पेन्सिल', 'क्राउन' तथा 'चारकोल' कहते हैं। 'आइवरी ब्लैक' के लिए 'काजल' तथा कहीं-कहीं 'स्याही' शब्द भी मिलता है।

प्राचीन भारतीय चित्रकारों के चित्र बनाने के जो साधन या आधार होते थे, वे चार प्रकार के थे— 'पट', 'फलक', 'भित्ति', 'धूल'। इन पर बने चित्रों के नाम भी मिलते हैं— 'पटचित्र', 'फलकचित्र', 'भित्तिचित्र' तथा 'धूल चित्र'। अंग्रेजी में पटचित्र को 'कैनवस पेन्टिंग' कहते हैं। अंग्रेजी के शब्द 'बैकग्राउण्ड' के लिए 'पृष्ठिका', 'स्टाईल' के लिए 'शैली' तथा 'कलम', 'कम्पोजिशन' के लिये 'संयोजन', 'ड्राइंग' के लिये 'नक्शा', 'खाका' तथा 'रेखांकन'। अंग्रेजी शब्द 'पर्सपेक्टिव' को संस्कृत में 'दृष्टिगत', 'दृष्टिपरम्परा' तथा 'दृष्टिसरणि' कहा गया है। मुगलकालीन चित्रकला में अरबी, उर्दू और हिन्दी के मिले-जुले पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता था। हिन्दी के 'व्यक्ति-चित्र' अथवा 'मुखाकृति' को मुगलकाल में 'शबीह' कहा गया है। इसमें व्यक्ति को सामने बैठाकर चेहरे को हू-ब-हू चित्रांकित किया जाता था। इस क्रिया को आकारक्रम में एकचश्म, सवाचश्म तथा पौनेदोचश्म कहते थे। हिन्दी में इसके लिए एकभाग, पौनेभाग, आदि शब्दों का प्रयोग हुआ। अपनी शबीहों को संभालकर रखने के लिये एक पुस्तिका, जिसे वे 'मुक्का' कहते थे, वह

हिन्दी के 'चित्राधार' तथा अंग्रेजी के एल्बम का समानार्थी है। इसी तरह चीन, नेपाल, जावा, सुमात्रा तथा जहाँ-जहाँ हमारी कला का प्रचार था, वहाँ भी पारिभाषिक शब्दावली मिलती है, लम्बे-पतले चित्रों को आज भी वहाँ 'स्करोल' कहते हैं। जिसे हमारे साहित्य में कुण्डलम् चित्र अथवा 'कुण्डलम्पत्ता' कहा गया है।

इस प्रकार न जाने कितने ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जो हमारे कला साहित्य के प्राचीन स्रोतों में गुथे हुए हैं। किन्तु हम उनके अर्थबोध से वंचित हैं। अब तक हम विदेशियों द्वारा बनाये गये मार्ग पर चल रहे थे। यह मार्ग संकुचित होने के साथ ही सीमित व्यक्तियों के लिए था। जिस पर जनसाधारण की पहुँच नहीं थी। किन्तु अब हमें अपने बनाये मार्ग का निर्माण करना है। हमारी भाषा का महत्व कविता, साहित्य आदि से काफी बढ़ चुका है। अब हमें अपनी भाषा को विज्ञान, विधि, प्रकाशन और कला आदि की ओर मोड़ने की आवश्यकता है! यदि हम अपने प्राचीन हिन्दी संस्कृत ग्रन्थों में उल्लेखित पारिभाषिक शब्दों को संकलित कर अन्य मुख्य भाषाओं में उनका अनुवाद कर नवीन शब्दकोष की रचना करें, तो चित्रकला के साथ साहित्य की भी एक बड़ी उपलब्धि होगी और हमें अपनी तकनीकी शब्दावली हेतु किसी अन्य विदेशी भाषा के सम्मुख हाथ नहीं फैलाने पड़ेंगे तथा हमारी भाषा और हमारी कला समृद्ध होगी।

सन्दर्भ :

1. Fairholt, F.W. dictionary of items in art P-426
2. चौरसिया, रामचंद्र, भाषा त्रैमासिक, 1963 पृ०-37
3. बाथम, रूप नारायण, पारिभाषिक कला कोष- पृ०-6
4. राही, बीरेन्द्र सिंह, भाषा त्रैमासिक, 1963, पृ०- 108
5. वही, पृ०-111

राजस्थानी दरबारी कला में वस्तु एवं आभूषण सज्जा

डॉ. मनीष कुमार जायसवाल*

राजस्थानी मेवाड़ शैली को कई राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ तथा इन राजाओं की रुचियाँ भी भिन्न-भिन्न थी। इसलिए उदयपुर में नये चित्र निर्मित किये गये। उन चित्रों की आकृतियों की वेशभूषा में अत्यधिक अन्तर रहा, यह अन्तर समाज के तत्कालीन प्रभाव के कारण आया। 18वीं शताब्दी से राजस्थान के राजा मुगल दरबार के अनुकरण पर अपने साम्राज्य में जीवन भोगने लगे थे। औरंगजेब के समय से ही राजस्थान में मुगल संस्कृति पनपने लगी थी, जिसके कारण दरबारी चित्रकला पर भी इसका प्रभाव पड़ा। अंग-प्रत्यंग चित्रण में आभूषण व वस्त्रों में यह परिवर्तन देखने को मिलता है।

इस समय के चित्रों में राजा-रानी तथा दरबारीगण को मुक्ताहारों से सुसज्जित दिखाया गया है। स्त्री आकृतियाँ भी पूर्ण रूप से सुसज्जित हैं, जिसमें राजस्थानी वीरता को चित्र में पहले दिखाया गया है। ये आभूषण सोने और चाँदी के बनाये गये हैं। इन आभूषणों में हार, चौकी, हमेल कुण्डल, कर्णफूल, बेसर बाजूबन्द, झूमर आदि पहने दिखाया गया है। महाराणाओं को हीरा, लाल मोती, नीलम, स्फटिक आदि आभूषणों में जड़ा दिखाया है तथा साज-सज्जा के लिए जावक पीक, कुमकुम, बिन्दी, चन्दन, लाली, सिन्दुर आदि से सुसज्जित किया गया है। इन चित्रों में वस्त्रों में लहंगा, चोली, पारदर्शी दुपट्टा पहने दिखाया गया है। राजाओं, सामन्तों आदि की वेशभूषा में बहुत कम अन्तर था। इसके कई कारण रहे।

मुगल शैली में मुगल दरबार से राजस्थानी राजाओं का सीधा सम्बन्ध था, जिसके कारण एक-दूसरे की संस्कृति का आदान-प्रदान स्वाभाविक था। मुगल शैली में वस्त्राभूषण विशेष रूप से मिलता है। चुन्नियाँ आदि पारदर्शी वस्त्रों से बने हैं तथा अधिकतर ग्रीष्म ऋतु के वस्त्र पहने हुए आकृतियाँ हैं, वस्त्रों में आलेखन बने हैं। जिनमें मौलिकता है, महीन अलंकरण ही इन वस्त्रों को सुन्दर बनाता है। इसी प्रकार आकृतियों को आभूषणों से सजाया हुआ है। बड़े सुन्दर अलंकृत आभूषणों के दर्शन इन चित्रों में होते हैं। पुरुषों ने अंगरखे, पाजामें व सिरों पर साफे पहने हैं, जो महीन पच्चीकारी से अलंकृत है। फर्श पर बिछे कालीन या गलीचे सुन्दर आलेखनों से सुसज्जित है या परिपूर्ण है।

मुगल कला में वस्त्राभूषणों में सोने-चाँदी के रंगों का बहुतायात से प्रयोग हुआ है। साफों में जो रत्न जटित स्वर्ण कलंगी लगायी गई है, उनमें सोने के रंगों का प्रयोग है। गले की मालाओं में तथा पैरों की जूतियों में भी सोने के रंगों का ही बहुत सावधानी से प्रयोग किया गया है। इसका प्रभाव राजस्थानी दरबारी कला पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

औरंगजेब की कलाओं के प्रति उदासीनता और मुगल दरबार के विघटन के उपरान्त वहाँ के दरबारी कलाकार राजदरबार में आश्रय पाने लगे, जिससे मुगल वेशभूषा और अन्य उपकरणों का अंकन राजस्थानी चित्रकला में बहुलता से मिलता है। जो इस प्रकार है, जरी

* प्रवक्ता, चित्रकला, एस.डी. इण्टर कालेज, सहारनपुर

के कपड़े, कन्तु के कपड़े, तार कसी के कपड़े, पगड़ी, पाजामा, अचकन, कमरबन्द, चूड़ीदार पाजामा, जूती, सलमा, सितारा, जड़ी पारदर्शी ओढ़नी आदि पहने दिखाया गया है। इन वस्त्रों के ऊपर आढ़ी तिरछी फूल-पत्ती के अलंकरण भी बनाये हैं। इन चित्रों में सबसे आकर्षक भाग चित्र में सामियाने और कनात हैं। जिनके नीचे या मध्य बैठे महाराणाओं को बनाया गया है। इन कनातों और सामियानों पर सुनहरे रंग से बहुत ही सुन्दर ढंग से अलंकरण किये गये हैं जो मुगल प्रभाव से प्रभावित है। इसके अतिरिक्त उदयपुर के चित्रों में एक मुख्य बात यह देखने को मिलती है जिसमें राजसी घोड़े और हाथियों के राजाओं से प्रेम सम्बन्ध दर्शाने के लिए उनके नाम रखे गये हैं तथा उनके ऊपर पड़ी झूल, हौदे तथा उनके शरीर को ऊपर से फूल-पत्ती से अलंकृत किया गया है जो इस समय के महाराणाओं का इनके प्रति प्रेम दर्शाता है। महाराणा अरि सिंह घोड़े पर सवार जलूस चित्र इसका उदाहरण है।

अरि सिंह को घोड़े पर सवार जलूस चित्र में सफेद अरबी घोड़े पर बैठा दिखाया गया है। यहाँ तक की घोड़े की खुर को लाल रंग से सजाया गया है। घोड़े की गर्दन पर सुनहरे रंग की चौड़ी सी झूल डाली गयी है। घोड़े की लगाम भी सुनहरे हरे मोतियों की बनी है। घोड़े की पीठ पर सफेद सुनहरे रंग की माला लगी है। अन्य घोड़े भी इसी तरह अलंकृत किये गये हैं। महाराणा राजस्थानी अलंकृत पगड़ी तथा सफेद रंगों के जामें में दिखाया गया है। इस चित्र में सभी आकृतियाँ चाँदी के आभूषणों को पहने हुए हैं। वस्त्रों में भी विभिन्नता है। चित्र में दरबारी पट्टीदार बहुत ढीला घुटने तक पाजामें पहने हुए हैं और कुछ धोती पहने हुए हैं। सभी आकृतियों के पैरों में जूतियाँ हैं। सिर पर पगड़ी है। वाद्ययंत्र बजाने वाले परिचारक कसा हुआ पाजामा तथा ऊँचा अंगरखा पहने हुए हैं। इस तरह यहाँ संग्रहीत चित्रों में वस्त्रों में विभिन्नता दिखायी गयी है। यहाँ के दरबारी कला में वस्त्र एवं आभूषण सज्जा का अत्यधिक प्रभाव रहा है।

संदर्भिका

1. डॉ० मोतीचन्द — मेवाड़ पेन्टिंग दि टाईम्स ऑफ इण्डिया।
2. जय सिंह नीरज — राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी काव्य।
3. वाचस्पति गैरोला — भारतीय चित्रकला।
4. आर०के० वशिष्ठ — आर्ट एण्ड आर्टिस्ट ऑफ मेवाड़।
5. गिर्राज किशोर अग्रवाल — कला समीक्षा।
6. ए०के० हल्दार — अवर हैरिटेज इन आर्ट।

शिक्षा और समाज में स्त्री की भूमिका

डॉ. पुनीता श्रीवास्तव*

स्त्री को समृद्धि, शक्ति और संस्कृति की अधिष्ठात्री कहा जाता है। परा और अपरा शक्ति के रूप में उसी की चर्चा तत्त्व ज्ञानी हमेशा से करते रहे हैं। सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा के रूप में उसी की आराधना होती रही है। इसी शक्ति का संयुक्त एवं मूर्तिमान रूप नारी है। प्राचीन युग में स्त्री को उच्च स्तर प्रदान किया जाता था, उसे वरिष्ठ माना जाता था तथा उसे देवी की उपमा दी जाती थी। विश्व की प्रत्येक व्यवस्था में भी स्त्री को अत्यधिक सम्मान मिलता था।

मानव जीवन की धुरी तीन आधारों पर टिकी है: ज्ञान, धर्म व शक्ति। ज्ञान, धर्म व शक्ति की स्वामिनी के रूप में स्त्री वाचक शब्द का प्रयुक्त होना उसकी श्रेष्ठता को बताता है। स्त्री को ज्ञान की देवी, धर्म की देवी एवं शक्ति रूपा माना है। नारी रूपा लक्ष्मी को ही धन की स्वामिनी बताया गया है। शक्ति के रूप में स्त्री वाचक देवियों का वर्णन मिलता है तथा विद्या की देवी के रूप में सरस्वती सर्वविदित ही है।

आधुनिक काल की भांति प्राचीन काल में भी स्त्रियों की शिक्षा पर कोई प्रतिबंध नहीं था, किंतु कुछ स्त्रियों का ही उल्लेख हमें प्राचीन साहित्य में मिलता है। इसका कारण यह हो सकता है कि उस समय शिक्षा के क्षेत्र में जिन्होंने विशेष ख्याति अर्जित कर ली थी, उन्हीं का नामोल्लेख हमें मिलता है। वैदिक काल से लेकर ईस्वी सदी के आरंभ तक कन्या का वेदाध्ययन उपनयन संस्कार से ही प्रारंभ होता था। पूर्व वैदिक काल में लोपामुद्रा¹ विश्ववारा, सिकता, अपाला² तथा घोषा आदि अनेक विदुषी स्त्रियों ने वैदिक मंत्रों की रचना की थी और इसके लिये वे ऋषि की उपाधि से विभूषित हुई थीं। नोघा, आकृष्टा, सिकता, निवावरी, गोपायना आदि अनेक विदुषी नारियों का उल्लेख सामवेद में भी मिलता है। वैदिक काल में विवाह योग्य बनने के लिये भी अध्ययन की अनिवार्यता थी।³ स्त्री समाज को वेद मंत्रों के अध्ययन से अलग रखने वाला समाज चाहे जो तर्क दे, किन्तु वैदिक युग यही कहता है कि स्त्री को भी पढ़ने का समान अधिकार है। वेदाध्ययन हेतु वह यज्ञोपवीत के अधिकार से भी वंचित नहीं थी, इस अधिकार के साथ उसे यज्ञ करने और कराने का अधिकार रहा है।⁴ उपनिषद् काल में भी कई दार्शनिक स्त्रियों की उच्च कोटि की विद्वत्ता का परिचय हमें मिलता है। याज्ञवल्क्य की पत्नि मैत्रेयी ब्रह्मज्ञान द्वारा अमर पद प्राप्त करना चाहती थी। वृहदारण्यकोपनिषद् में गार्गी—याज्ञवल्क्य संवाद से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ ब्रह्मविद्या में प्रवीण होती थी। उस समय विदुषी बनने की योग्यता रखने वाली कन्याओं को पुत्री के रूप में प्राप्त करने के लिये लोग विशिष्ट योजनाएं सम्पादित करते थे।⁵ कालान्तर में स्त्रियाँ भी अध्यापन कराने लगीं तभी तो उन्हें 'आचार्या' या 'उपाध्याया' की उपाधि दी गयी।⁶ किन्तु स्मृति साहित्य के प्रणयन काल में स्त्री की दशा में विशेष परिवर्तन आया। इस काल से

* व्याख्याता (संगीत) जा.दे.ब.राज.क. महाविद्यालय, कोटा (राज.)

ही पुत्र व पुत्री में विभेद की धारणा बलवती हुई। पुत्री की अपेक्षा पुत्र जन्म को श्रेष्ठ ठहराया गया। स्त्री शिक्षा नगण्य हो गयी। शिक्षा विषयक उपनयन संस्कार को विवाह के साथ संबद्ध कर दिया गया। पति सेवा को आश्रम निवास और गृहस्थी के कार्य दैनिक धार्मिक अनुष्ठान कहे गये— वैवाहिको विधि स्त्रीणाम् संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पति सेवा गुरौवासो गृहार्थोऽग्नि परिक्रिया।⁷

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी स्त्री शिक्षा का कहीं उल्लेख नहीं हुआ है स्त्रियों का वास्तविक जीवन उनके विवाह से प्रारंभ माना गया अतएव विवाह संस्कार को प्रधानता दी गयी। याज्ञवल्क्य ने क्रमशः पिता, पितामह, भाई, कुल का पुरुष तथा माता को कन्या दान का अधिकारी माना है। यदि कोई भी नहीं हो तो कन्या को स्वयं विवाह करने का अधिकार प्राप्त था। वैदिक काल में स्त्रियों को विभिन्न क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्त थी। स्त्री अपना पति चुनने में पूर्णतया स्वतंत्र थी, लेकिन स्मृति काल तक आते आते उनका यह अधिकार छिन गया। उन पर विभिन्न प्रकार के नियंत्रण लगा दिये गये तथा उनका कार्य क्षेत्र घर की चारदीवारी तक सीमित कर दिया गया।⁸ याज्ञवल्क्य ने मनु की व्यवस्था में संशोधन किया कि इन सब के न होने पर जाति के लोग उसकी रक्षा करें तथा स्त्री को कभी स्वतंत्र न रहने दें।⁹ पिता, पति, भाई आदि ने जिस पुरुष के साथ बोलने के लिये मना किया हो, उससे बोलने पर वह स्त्री सौ मण दंड की भागी होती थी।¹⁰ वैदिक युग की तुलना में धर्म सूत्रों व स्मृति काल में स्त्रियों की स्थिति शोचनीय हुई। रामायण महाभारत काल से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ शिक्षित थीं। सीता का नियमित रूप से संध्या पाठ करना, कैकयी का युद्धस्थल में महाराज दशरथ की सहायता करना, द्रोपदी द्वारा युधिष्ठिर को सचेत करना, कुंती द्वारा पांडवों को समय-समय पर सचेत करते रहना आदि उनकी व्यावहारिक बुद्धिमत्ता को इंगित करता है। राजकुल की दासियों तक का चौंसठ विद्याओं में विशारद होना उनकी श्रेष्ठता का बताता है।¹¹ अर्थशास्त्र के गणिकाध्यक्ष प्रकरण में गणिका, दासी या अभिनेत्री बनने वाली कन्याओं को शिक्षा देने के लिये राजाओं की ओर से आचार्यों को नियुक्त किये जाने का उल्लेख है।¹² औषधचरित के षष्ठ सर्ग में गंधर्व स्त्रियों को नारद की शिष्याएं बताया गया है, जो कि संगीत विद्या में प्रवीण थीं।

भारतीय संदर्भ में स्त्री स्वतंत्रता को देखें तो एक दूसरे ही नजरिये से देखना होगा। पाश्चात्य देशों में रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, झूठी मान्यताएं नारी के विकास को उस तरह तोड़ती या कुचलती नहीं हैं, जैसी हमारे यहाँ। उनकी समस्या व्यक्तिगत स्तर पर शारीरिक और मानसिक रूप से पुरुष निर्भरता से मुक्ति की है, जबकि हमारे यहाँ सामाजिक संस्कारों और रूढ़ियों से उबरने की है। यहाँ तो दहेज, जाति, आर्थिक परतंत्रता, सुरक्षा, सतीत्व और भारतीय नारी का बहुप्रचारित शिकंजा जैसी अनेक रूकावटें हैं, जो उनकी स्वतंत्रता और प्रगतिशीलता में बाधक हैं।

आज तक मनुष्य का अर्थ सिर्फ पुरुष लगाया गया है और सहचर स्त्री को माना गया है। स्त्री को इस मुक्ति अभियान से पृथक रखा गया, क्योंकि यदि स्त्री भी मुक्त होती तो पुरुष

वर्चस्व के सारे समीकरण चरमरा जाते। स्त्री विमर्श का कर्तव्य स्त्री की केवल मुक्ति ही नहीं, अपितु पुरुष को भी उन कुंठाओं और वर्जनाओं से मुक्त करना है जो स्त्री पर पुरुष वर्चस्व को सही ठहराती है। आज का सबसे बड़ा सच यही है कि स्त्री स्वतंत्रता की ओर बढ़ रही है और पुरुष अपने परंपरागत स्वामित्व की रक्षा में हिंसक और प्रतिशोधी होता चला जा रहा है। वह हत्याओं, बलात्कारों, सैक्स हिंसाओं तथा धार्मिक प्रेत पूजाओं द्वारा स्त्री को उसकी वास्तविक हैसियत बता रहा है। इसका मूल कारण विश्व की सभी संस्कृतियों के केन्द्र में पुरुष का होना है। सभी धर्मों के संस्थापक पुरुष ही माने गये हैं। धर्म, संस्कृति और सभ्यता के केन्द्र में पुरुष को ही रखा गया और स्त्री उसकी सहायक रही। निजी स्वार्थवश तथा निजी वर्चस्व बनाये रखने के लिये पुरुष ने अधिकतर स्त्री को स्वयं से हीनतर ही प्रस्थापित किया और उसे मात्र अपने भोग की वस्तु बनाये रखा।

इस जटिल समस्या से मुक्ति पाने के लिये अपनी अस्मिता, अस्तित्व और मनुष्य रूप में अपनी पहचान बनाने के लिये स्त्री कृतसंकल्प दिखायी दे रही है। आज की सजग सचेत जागरूक नारी न तो तुलसी के शब्दों में ताड़ना की अधिकारिणी है, न कबीर की माया का रूप है और न ही प्रसाद तथा गुप्त की श्रद्धा और अबला है। जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष की भांति अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के लिये स्त्री संघर्षरत है। स्वतंत्र चेतना से ओतप्रोत नारी आज इन मूल प्रश्नों पर गहनता, गंभीरता से चिंतन मनन करने के लिये उद्यत है। परंपरागत रूप में माँ, बेटी, पत्नि तथा प्रेयसी, किन्तु व्यक्ति रूप में कुछ नहीं। मानव रूप में मान्यता क्यों नहीं? अपनी अस्मिता की स्थापना और रक्षा क्यों नहीं? स्त्री होने के नाते वह दोगुना दर्जे की नागरिक क्यों? माँ होने के नाते व पुरुष से ऊपर क्यों नहीं? पति-पत्नी के नाते दोनों परस्पर सहयोगी ही क्यों, सहभागी और पूरक क्यों नहीं? दोनों के पृथक स्वतंत्र अस्तित्व और परस्पर पूरकता की बात प्राकृतिक देन है, आरोपित सामाजिक अवधारणा नहीं। धर्म, संस्कृति और नैतिकता का सारा बोझ स्त्री के कंधों पर ही क्यों लदा है? स्त्री को उसकी शारीरिक-मानसिक समग्रता में क्यों नहीं देखा जाता? क्यों उसका सारा व्यक्तित्व यौन शुचिता से ही निर्धारित होता है?

कानूनी सिद्धान्तों के स्तर पर घोषित समानता के लक्ष्यों के विपरीत व्यवहार के स्तर पर सामाजिक जीवन में स्त्रियों के प्रति जो भेदभाव बरकरार है, क्या उस पर ध्यान दिये जाने की आवश्यकता नहीं? राजनीति में महिलाओं की भागीदारी को स्वीकार करने के बावजूद क्यों अब भी राजनैतिक जीवन में महिलाओं का प्रतिनिधित्व पुरुषों से कम है? क्यों सभी प्रकार के रोजगारों में महिलाओं की संख्या पुरुषों के बराबर नहीं है? और क्यों अब भी समान कार्य के लिये समान वेतन नहीं दिया जाता।

कोई भी अस्वाभाविक बंधन चिरस्थायी नहीं होता। शताब्दी तक कारावास भोगने वाली नारी आज करवट बदल रही है। अपनी प्रतिभा के हर क्षेत्र में बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रही है। नारी को आज पुरुष की दया को नहीं, अपितु स्वावलंबन और आत्मविश्वास को आधार

बनाना है। आज भारतीय नारी अपनी प्रतिभा और भूमिका से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अलंकृत कर रही है। शिक्षा, विज्ञान, धर्म, राजनीति और सेना सभी में नारी की उपस्थिति दर्ज हो चुकी है। यही नहीं बड़े-बड़े कल कारखानों में भी महिलाएं कार्यरत हैं। कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जहां महिलाओं का हस्तक्षेप न हो। बस, अस्पताल, तार विभाग, वन विभाग, पुलिस, हवाई सेवा और वन्य प्राणियों से सामना करते हुए भी महिलाएं मिल जायेंगी। साहित्य लेखन, फिल्म निर्माण, मुर्गी पालन तथा समाज सेवा जैसे गुरुत्तर कार्य का भार भी बड़ी दक्षता से महिलाएं उठा रही हैं तथा महत्वपूर्ण कार्यभारों को पुरुष के समान ही योग्यता व गौरव के साथ संभाल रही है। शासन उसकी दशा सुधारने को प्रयत्नशील है। बहुविवाह, दहेज प्रथा, बाल विवाह आदि कुरीतियां एक चुनौती के रूप में हमारे समक्ष सुरसा की भांति मुंह खोले खड़ी हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष में एक और महिलाओं की स्थिति उत्साहजनक है, तो दूसरी और अत्यंत निराशाजनक भी है। स्त्रियों के संबंध में भारतीय समाज में दो तरह के दृष्टिकोण पाये जाते हैं। एक दृष्टिकोण समाज में स्त्री को पुरुष के समकक्ष सम्मान एवं स्थिति दिलाने के पक्ष में है, तो दूसरा दृष्टिकोण उन्हें पुरुषों से निम्न दर्जे का मानता है, और उन्हें अधिकारों से वंचित रखना चाहता है। प्रथम दृष्टिकोण रखने वाले स्त्री को शक्ति, ज्ञान और सम्पत्ति का प्रतीक मानते हैं, उसे दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी की तरह पूजते हैं। दूसरा दृष्टिकोण रखने वाले लोग स्त्री को समाज में पुरुषों के समान अधिकार दिलाने के विरोधी हैं। इसी कारण समाज में स्त्री का उत्पीड़न, शोषण एवं दमन होता है।

वर्तमान समय में स्त्रियाँ लगभग प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के बराबर आकर खड़ी हो गयी हैं। शिक्षा के प्रचार प्रसार तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भारतीय स्त्री की स्थिति में तथा उसके दृष्टिकोण में आमूलचूल परिवर्तन हुए हैं। हजारों वर्ष उपभोग की वस्तु मात्र बने रहने की यातना सहने के पश्चात् सामाजिक जागरूकता का यह प्रथम अवसर है जब स्त्री की नियति को लेकर संशय उठने लगे हैं, परम्परागत मूल्यों की शाश्वतता पर प्रश्न चिन्ह लगाये जा रहे हैं, परिवर्तनशील परिस्थितियों में उत्पन्न समस्याओं के समाधान खोजे जा रहे हैं। एक और जहां समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और साहित्यकार अपने दृष्टिकोण और अवधारणा में स्त्री समस्याओं को समझने और उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं, वहीं दूसरी और सरकार विविध कानूनों एवं आरक्षणों द्वारा स्त्री उत्थान की दिशा में सतत प्रयत्नशील है। नारी चेतना की विश्वव्याप्त लहर के परिणामस्वरूप कई आयोगों व संगठनों का गठन हुआ है। इन संगठनों की बढ़ती हुई संख्या नारी चेतना को उद्घाटित करती है। आज नारी चेतना अभियान समाज के दोहरे मानदंडों की पोषक मान्यताओं एवं पुरुषों के वर्चस्व, विरोध तथा स्त्री अस्मिता की पहचान बनाने का प्रयास कर रहा है।

संदर्भ :

1. ऋग्वेद 1.179.4
2. ऋग्वेद 8.91.7
3. अथर्ववेद 11.5.18
4. अथर्ववेद 6.122.5
5. अथर्ववेद 6.4.17
6. आश्वलायन गृहसूत्र द्वि.भा.पृ. 216, 310, 402
7. मनुस्मृति 2 / 67
8. मनुस्मृति 5 / 147, 148
9. याज्ञवल्क्य स्मृति 1 / 75
10. याज्ञवल्क्य स्मृति 2 / 286
11. महाभारत 2 / 61 / 9
12. अर्थशास्त्र 2.27.41

बैंकिंग व्यवसाय में कोष की भूमिका

डॉ. कुमार विमल लखटकिया*

वित्त प्रत्येक व्यवसाय का जीवन-रक्त है, सम्पूर्ण अर्थतंत्र का केन्द्र है और सारी आर्थिक क्रियाओं के कारण और परिणाम के रूप में अनेक अर्थ और इति का परिचय है। सारे व्यावसायिक उद्देश्य वित्त से ही उद्भूत होते हैं और अन्ततः वित्त में ही विलीन हो जाते हैं। व्यापार में लक्ष्मी का निवास है (व्यापारे वसते लक्ष्मी) और यह लक्ष्मी कोष के रूप में व्यापार में उपलब्ध होती है। व्यवसाय नया हो या पुराना, छोटा हो या बड़ा बिना कोष के चल ही नहीं सकता, अतः प्रत्येक व्यवसाय में वित्त की आवश्यकता रहती है।¹ यह आवश्यकता कम या अधिक तो हो सकती है, पर सर्वथा लुप्त नहीं होती।

व्यापारिक बैंके सामान्यतः सार्वजनिक कम्पनियों के रूप में स्थापित, गठित और संचालित की जाती हैं। अतः इनका लेखांकन एवं लेखों का प्रस्तुतीकरण एक ओर तो कम्पनी अधिनियम से प्रभावित होता है, तो दूसरी ओर बैंकिंग अधिनियम की व्यवस्थाओं के प्रति भी सचेत रहना होता है।²

बैंक एक विशेष प्रकार की वित्तीय संस्था है, जो शत-प्रतिशत दूसरों के जमा किये हुए पैसों से व्यवसाय करती है। अर्थात् बैंक में कोषों का निर्माण सामान्यतः बाहरी स्रोतों से ही होता है। बैंकिंग अधिनियम 1949 तथा उसके उपरान्त किये गये संशोधनों में वैधानिक कोष व्यवस्था के अतिरिक्त कोष निर्माण और विनियोग के दिशा-निर्देशक सिद्धान्त निहित हैं।³ जिनके प्रकाश में ही कोषों का निर्माण एवं सृजन किया जा सकता है। न तो बैंक में निष्क्रिय कोष पड़े रहें और न बैंक के पास कोषों के अभाव का संकट उत्पन्न हो जाये, इसके लिए विशेष जागरूकता आवश्यक है। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि बैंकिंग व्यवसाय में कोषों की भूमिका अप्रतिम है। एकाधिक प्रकार से कोष का संग्रह किया जाता है और एकाधिक मदों में ही उसका विनियोग भी होता है। बैंक में अत्याधिक पूंजी कोष एक संकट हो सकते हैं। अति पूंजी निर्गमन से अति पूंजीकरण का भी भय है, अलाभ-प्रदता और हानि की आशंका तो है ही।

कोष उपयोग के विवरण के अन्तर्गत 'कोष' शब्द का महत्व कुछ भिन्न है। यह शब्द रोकड़ शब्द से विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है। कोष शब्द का वास्तविक अर्थ कोष-प्रवाह-विवरण के अनुसार शुद्ध क्रियाशील पूंजी के संबंध में किया जाता है।⁴ रोकड़, प्राप्य लेखे इन्वेन्ट्री आदि अस्थायी सम्पत्तियों निरन्तर प्रवाह से बार-बार रोकड़ में परिवर्तित होती रहती है और अपना चक्र पूरा करती हैं। दूसरे शब्दों में तैयार इन्वेन्ट्री को बेचकर रोकड़ प्राप्त की जाती है। इस प्रकार पुनः रोकड़ को तैयार इन्वेन्ट्री में परिवर्तित किया जाता है। इन निरन्तर परिवर्तनों से व्यवसाय की शुद्ध क्रियाशील पूंजी प्रभावित नहीं होती, क्योंकि शुद्ध क्रियाशील पूंजी का अर्थ अस्थायी सम्पत्ति का अस्थायी दायित्वों के अधिक्य से लिया जाता है। इस प्रकार कोष प्रवाह-विवरण में कोष का अर्थ शुद्ध क्रियाशील पूंजी अर्थात् अस्थायी

* असिस्टेंट प्रोफेसर वाणिज्य, राजकीय महाविद्यालय, बाजपुर (उधमसिंह नगर)

सम्पत्ति व अस्थायी दायित्व के बीच अन्तर के सन्दर्भ में किया जाता है।⁵ जो रोकड़ की अपेक्षा विस्तृत महत्व रखता है।

आज देश में कई प्रकार के बैंक स्थापित व संचालित हैं, जिसमें बैंक के कोष का विश्लेषण अति आवश्यक है। अतः बैंकिंग व्यवसाय को संचालित करने में कोष की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

संदर्भ

1. शर्मा एवं शर्मा बैंकिंग विधि एवं व्यवहार (1988 पृ. 34)
2. पी.ए. वार्णोय बैंकिंग विधि एवं व्यवहार (1989 पृ. 47)
3. शर्मा एवं वार्णोय विकास का अर्थशास्त्र एवं नियोजन (1982 पृ. 22)
4. डॉ. एस.पी. गुप्ता प्रबन्धकीय लेखा-विधि (पृ. 247)
5. अग्रवाल एवं अग्रवाल वित्तीय प्रबन्ध (1988 पृ. 43)

भाषा और साहित्य के माध्यम से भारतीयता की पहचान

डॉ. अनुपमा त्रपाठी*

देवभाषा संस्कृत समस्त भारतीय भाषाओं में प्राणस्वरूप प्रतिष्ठित है। प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विभिन्न रूपों में तो उसका प्रभाव एवं अनुशासन प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है। वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत, तदुपरान्त पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश के विभिन्न पड़ावों से होती हुई आज संस्कृत संपूर्ण भारत की भाषाओं का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से नियमन एवं प्रवर्तन कर रही है। हिन्दी का यह परम सौभाग्य है कि उसे विश्व की सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक भाषा संस्कृत का सुदृढ़ आधार प्राप्त है, जिसके कारण आज वह अपनी व्याकरणगत सुनिश्चितता, साहित्यिक सम्पन्नता तथा आदर्श संस्कृति एवं दर्शन की विश्वव्यापकता का जयघोष सम्पूर्ण जगत में कर रही है। यह निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी का समस्त व्याकरण, भाषाशास्त्र एवं साहित्य संस्कृत से ही अनुप्राणित है।

ज्ञान, भक्ति, अध्यात्म एवं भागवत् प्रेम से परिपूर्ण हिन्दी का पूर्व मध्यकालीन साहित्य संस्कृत के लोकविश्रुत महाकाव्य 'रामायण', 'महाभारत' एवं 'श्रीमद्भागवत' की कथाओं पर आधारित है। तुलसीदास के सम्पूर्ण रामकाव्य विशेष रूप से 'रामचरितमानस' पर वाल्मीकि-रचित रामायण तथा विभिन्न वेद, शास्त्र, पुराण आदि का प्रभाव सर्वविदित है जिसकी घोषणा रामचरितमानस के प्रारम्भ में कवि ने स्वयं की है:—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रधुनाथगाथा —
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति

इसी प्रकार सूरदास-विरचित 'सूरसागर', जो ब्रजभाषा में कृष्णकाव्य की अनुपम कृति मानी जाती है, व्यासकृत 'श्रीमद्भागवत महापुराण' पर आधारित है। ब्रजभाषा के अन्य कवियों द्वारा रचित वात्सल्य, शृंगार एवं भक्तिपरक कृष्णलीलाकाव्य भी 'श्रीमद्भागवत महापुराण' में वर्णित आख्यानों एवं उपाख्यानों पर आधारित हैं। व्यासकृत 'महाभारत' की कथा-सामग्री को लेकर मध्यकाल में ही सबलसिंह चौहान ने अवधी में 'महाभारत' की रचना की जो तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की दोहा-चौपाई शैली में रचित एक लोकप्रिय महाकाव्य है। आधुनिक काल में भी हरिऔधकृत 'प्रियप्रवास' 'श्रीमद्भागवत' की कथा पर आधारित हिन्दी का लोकप्रिय काव्यग्रन्थ है। संक्षेप में, संस्कृत साहित्य का सुदृढ़ आधार पाकर हिन्दी कृतकृत्य हो उठी।

भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार भारत में आर्य परिवार, द्रविड़ परिवार और आग्नेय परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इसमें द्रविड़ परिवार एवं आर्य परिवार की भाषाएँ ही प्रमुख हैं। आधुनिक भारत में दक्षिण के चार प्रान्तों की भाषाएँ द्रविड़ परिवार से आती हैं और शेष भारत

* अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी.बी.एस. (पी.जी.) कॉलेज, देहरादून, उत्तराखण्ड

में आर्य परिवार की। यदि इसे ही दृष्टि में रखें तो यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान भारतीय भाषाओं के दो स्रोत हैं, संस्कृत और द्रविड़। जहाँ तक द्रविड़ भाषा परिवार की बात है, उसकी चार भाषाएँ हैं, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इनमें मलयालम, कन्नड़ और तेलुगु की शब्दावली का स्रोत संस्कृत है और व्याकरण तमिल का। अतः इनमें अधिकांश भाषाएँ संस्कृत से प्रभावित हैं।

भारतीय साहित्य के प्राचीनतम रूप 'वेद' से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्य में भारतीयता का समावेश अपने उत्कृष्टतम रूप में विद्यमान है। वेदों में भारतीय अध्यात्म एवं दर्शन जहाँ जीवात्मा एवं परमात्मा में ऐक्य स्थापित करते हुए हमें 'अहं ब्रह्मास्मि' की अवधारणा से परिचित कराता है, वहीं स्मृतियों एवं पुराणों में ज्ञान, भक्ति, नीति, लोक जीवन के आदर्श एवं संस्कारों के दुर्लभ समावेश हमें भारतीयता के अत्यन्त निकट लाकर खड़ा कर देते हैं। आदि कवि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण में राम के आदर्श चरित्र की अवधारणा प्रत्येक भारतीय के लिये अनुकरणीय है। वेदव्यासकृत महाभारत में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के समन्वय तथा आदर्श एवं वीर चरित्रों की प्रस्तुति के साथ ही सत्य की विजय व असत्य की पराजय भारतीयता की अन्यतम पहचान है।

निष्काम कर्म का आदर्श प्रस्तुत करने वाला तथा समस्त धर्मों का सार स्वरूप 'श्रीमद्भगवद्गीता' भारतीय धर्म, ज्ञान, अध्यात्म, दर्शन एवं योग के विविध रूपों को प्रस्तुत करता हुआ भारतीय जनमानस को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला ग्रंथ है। व्यासकृत 'श्रीमद्भागवत' महापुराण भक्ति की सरस, शीतल एवं पुनीत गंगा में स्नान कराता हुआ प्रत्येक भारतीय का कण्ठहार बना हुआ है।

भारतीय साहित्य को सुदृढ़ आधार प्रदान करने वाले संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी का भक्तियुगीन साहित्य कबीर, सूर एवं तुलसी द्वारा प्रवाहित ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की त्रिवेणी है तथा भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग की संज्ञा से विभूषित करता है। इसी प्रकार रीतिकाल के रीतिबद्ध कवियों द्वारा भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की स्थापना तथा बिहारी जैसे रीतिसिद्धि कवि द्वारा अलंकृत साहित्य का प्रणयन भारतीय काव्य-कला को अनुपम उत्कर्ष प्रदान करता है। रीतिमुक्त कवि घनानन्द, ठाकुर, द्विजदेव आदि की बन्धनमुक्त, विशुद्ध एवं सहज प्रेम की पुनीत रस-धारा से सिक्त होकर प्रत्येक सहृदय अपने को धन्य समझने लगता है।

आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, छायावादी कवि प्रसाद, निराला, पन्त एवं महादेवी वर्मा के काव्य में भी भारतीयता अपने विविध रूपों में उपस्थित हुई है।

भारतीयता का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करने वाला महाकाव्य तुलसीकृत 'रामचरित मानस' विश्व-साहित्य में अपना अन्यतम स्थान रखता है। समन्वय तथा लोकमंगल की भावना को जन-जन तक पहुँचाना इस ग्रंथ का मूल प्रतिपाद्य है। ज्ञान एवं भक्ति का समन्वय, निर्गुण एवं सगुण का समन्वय, शैव एवं वैष्णव समन्वय तथा समाज एवं परिवार में

प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्तव्य का बोध कराना इस ग्रंथ का उद्देश्य है जहाँ पिता के वचन को सत्य प्रमाणित करने के लिये आदर्श पुत्र राम चौदह वर्षों के लिये वन चले जाते हैं वहीं पिता दशरथ राम के वियोग में प्राण त्याग देते हैं। आदर्श भाई के रूप में भरत एवं लक्ष्मण का चरित्र, आदर्श पत्नी के रूप में सीता का चरित्र तथा आदर्श माता के रूप में सुमित्रा का चरित्र अनुकरणीय है। सुमित्रा अपने पुत्र लक्ष्मण को सहर्ष राम के साथ वन जाने की आज्ञा देती हुई कहती हैं —

पुत्रवती जुवती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुत होई॥

इसी प्रकार रावण पर राम की विजय बुराई पर अच्छाई की विजय है जो भारतीय आदर्श का सर्वमान्य रूप प्रस्तुत करती है।

गृहस्थ जीवन का अपूर्व सौन्दर्य रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने चित्रित किया है। इसमें रिश्ते—नाते का आदर्श रूप, शादी—विवाह, जन्म—मरण, व्रत—उत्सव, संस्कृति—सभ्यता आदि विभिन्न आदर्श प्रस्तुत किये गये हैं। घर को घर बनाने वाली नारी पत्नी होती है, इसी दृष्टि से गृहस्थी में नारी की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

‘बिन घरनी घर भूत का डेरा।’

गृहस्थ जीवन के इस आदर्श की आधुनिक काल में महती अपेक्षा है, यही इसकी प्रासंगिकता है। राम ने वन में पर्णकुटी का निर्माण किया जिसमें सीता तथा लक्ष्मण सहयोगी बने। गृहस्थ जीवन की सफलता की कुंजी पारस्परिक सहयोग है। सीता वन में भी दाम्पत्य जीवन या गृहस्थ जीवन की मर्यादाओं की स्थापना कर रही थी। लक्ष्मण भी अग्रज का अनुसरण करके भ्रातृ—भावना के आदर्श के परिचायक बन रहे थे। गृहस्थ साधु—संतों का आदर करते हैं। सीता—गृहिणी में यह भावना कूट—कूट कर भरी है अन्यथा छद्मवेशी साधु रावण को लक्ष्मण रेखा पार कर भिक्षा न देती जो उनके अपहरण का कारण बना। अपहृत सीता ने अशोक वाटिका में रहते हुए, प्रताडना, संत्रास एवं कुंठा को सहन करते हुए दृढ़ता से अपने सतीत्व की रक्षा ही नहीं की अपितु अंत में अग्नि परीक्षा देकर सती सावित्री का प्रमाण प्रस्तुत कर दिया। आधुनिक गृहिणियों के लिए सीता ने पतिव्रता नारी का संदेश दिया है जो स्पृहणीय है।

सद्गृहस्थ का सहयोग, मानव ही नहीं, पशु—पक्षी भी करते हैं। हनुमान, सुग्रीव, जटायु इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। मानव को प्रकृति—प्रेम के साथ—साथ उसका सहयोगी बनना चाहिए यह गृहस्थ का परम कर्तव्य है। अन्याय के विरोधी राम ने बालि का वध किया तथा सज्जनों का सहयोग किया जिसके उदाहरण विभीषण हैं। त्याग की भावना ऐसी है कि उन्होंने रावण की मृत्यु के बाद लंका के राजा के रूप में रावण के भाई विभीषण का अभिषेक किया तथा चौदह वर्ष की अवधि में नगर में प्रविष्ट नहीं हुए, यह उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा है। मनुष्य को दृढ़प्रतिज्ञा एवं संकल्पी होना चाहिए। यह प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। सेतु—निर्माण में वानर—भालुओं का संगठन एवं सहयोग वैश्विक अनुकरण का विषय है।

गिलहरी के सहयोग को देखकर राम विजय के लिए आश्वस्त हो गए। नृशंस अत्याचारी के विरोध में सभी सहयोगी बन जाते हैं किन्तु आज शक्तिशाली देश विकसनशील देशों के प्रति नृशंस होकर अत्याचार कर रहे हैं। अन्य देशों को ऐसे विकसनशील देशों का सहयोगी होना चाहिए।

वास्तविकता यह है कि किसी भी महान अभियान की सफलता का श्रेय सहयोग को है। राम का अभियान ऐतिहासिकता के साथ-साथ एक प्रतीक बन गया है अदम्य शक्ति, साहस, संगठन एवं सहयोग का। आज वैश्विक एकता एवं शांति की अपेक्षा मानवता के लिए है। मानवीय दृष्टि से रामचरितमानस में प्रेरणा के अनेक स्रोत हैं।

वर्तमान में समस्याओं — मंहगाई, पापाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, बलात्कार, घोटाले एवं गबन का रावण सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। अनेक द्रौपदियों का चीर-हरण हो रहा है किन्तु राम, कृष्ण, हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवान, नल, नील कहीं दिखलाई नहीं पड़ रहे हैं। अरबों की जनसंख्या वाले भारत की शक्ति अतुल होते हुए विघटित है। परिवार विखंडित हो गया है। शक्ति का विभाजन प्रदेशों में हो गया। भाषायी प्रदेशों की संख्या बढ़ती जा रही है। जनसंख्या ज्यामितीय ढंग से वृद्धि की ओर तीव्र गति से अग्रसर है। हमारी शक्ति संप्रदाय, जाति तथा धर्मों में विभाजित होकर शक्तिहीन मानवता को विद्रूप करती जा रही है। यह प्रवृत्ति विकास की नहीं, विनाश की सूचक है, रामत्व की नहीं, रावणत्व की सूचक है। रावणत्व का अभिप्राय असंगठन एवं अत्याचार है जबकि रामत्व संगठन एवं सहयोग का द्योतक है। स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय प्रान्त, भाषा, धर्म, जाति एवं संप्रदाय को विस्मृत कर स्वतंत्रता के मंच पर एकत्रित हो गए थे। आज आवश्यकता है देश-विदेश के कारागार से मुक्त हो भाषायी, जातिगत, धार्मिक, सांप्रदायिक, विकसित एवं विकसनशीलता के भेदक तत्वों को भुलाकर विश्व-मानवता के मंच पर आकर विश्व-बंधुत्व एवं विश्व-एकता की भावना का; जिसकी प्रेरणा रामचरितमानस ने दी है, दे रहा है और देता रहेगा।

उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय भाषाओं में विरचित साहित्य में भी भारतीय आदर्शों का अनुपम रूप दृष्टिगत होता है तथा साथ ही भारतीय संस्कृति, धर्म, अध्यात्म, दर्शन एवं जन-जीवन का सहज तथा सरल रूप भी देखने को मिलता है जिसमें भारतीयता के यथार्थ दर्शन होते हैं।

भारतीयता अध्यात्म-तत्वों से जुड़ी हुई है। पूरा देश, पूरा सम्प्रदाय, पूरा वाङ्मय और हमारे संस्कार ही भारतीयता हैं। ऐसे जीवन मूल्यों की स्थापना भारत में हुई है। विश्व संस्कृति से जुड़ते हुए अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाना ही भारतीयता है।

पाश्चात्य दृष्टि में काव्य बिम्ब विधान

डॉ. अंजुली रतनम्*

काव्य का कार्य कल्पना में बिम्ब उपस्थित करता है, बुद्धि के समक्ष कोई विकार लाना नहीं।¹ अतः प्रत्येक कवि रूपी शिल्पी अपने शब्दार्थ चित्र के निर्माण में बहुत सावधानी के साथ प्रवृत्त होता है, होना भी चाहिए। थोड़ी सी भी असावधानी उसके संवेदनीय भाव को धूमिल अथवा विकृत कर सकती।

इस चराचरात्मक जगत के विराट प्रांगण में मानव जन्म किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं है। 'परमात्मा की एकांकी न रेमे', 'एकोहँ बहु स्याम' से ज्ञात होने वाली रिस्सा का परिणाम है यह नारी—पुरुषात्मक जगत्—जगत् के मनुष्य, यानी हम मानव। यह दृश्य किसी दृष्टा के लिये ही है और वह अन्य कोई नहीं, इस दृश्य की कृषि में जन्म लेने वाला मानव ही है, एकादशेन्द्रिय सम्पन्न मानव, वह मानव जो पाँच कामेन्द्रियों के साथ संकल्पनात्मक मन एवं पंच ज्ञानेन्द्र को लेकर जन्मा है। हमारी ये ज्ञानेन्द्रियाँ ही हमें इस चराचरात्मक जगत से हमको परिचित कराती हैं। हमारी आंख रूप एवं आकृतियों से, कान अनेक वेध ध्वनियों से, त्वचा शीतोष्ण, मृदु कठोरादि स्पर्श से, नासिका विविध भांति की गन्धों से तथा जिह्वा मधुरादि स्वादों से हमको परिचित कराती है। इन ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञात होने वाले पदार्थ इनके विषय कहलाते हैं। इन विषयों का जब स्वसम्बद्ध इन्द्रियों से सन्निकर्ष या टकराव होता है तब वे हमारे मानस पटल पर अपनी एक छाप छोड़ जाते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से अंतःकरण पर पड़ने वाली यही छापि या छाया बिम्ब कहलाती है।

वस्तुतः कवि के लिये बिम्ब की सहायता लेना इसलिये लगभग अनिवार्य सा है कि मन, जो संकल्प—विकल्पात्मक है, इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञात होने वाले किसी भी विषय पर अपने स्वभाववश जब मनन करता है तब चिन्तित विषय का कुछ अंश इन्द्रियातीत हो जाता है और इसी अतीन्द्रिय अंश को समझने—समझाने में होने वाली कठिनाई के निराकरण में प्रतीक, रूपक आदि साधन पर्याप्त रूप से समर्थ नहीं होते। कवि या कलाकार सर्वाधिक संवेदनशील प्राणी है वह जिस दृश्य को देखता है या जो भी दृश्य उसके सम्मुख घटित होता है वह उसकी मानस तन्त्री को झंकृत कर देता है, उसके मस्तिष्क में निरन्तर नृत्य सा करता रहता है, बार—बार उसको आहत करता है और अन्ततः उसके मानस पटल पर फिल्म के निगेटिव की भांति एक चित्र की आकृति लेकर अंकित हो जाता है। कवि—शिल्पी के मन पर अंकित होने वाला यह मानस—चित्र ही '**मानस बिम्ब**' कहलाता है।

बिम्ब का वास्तविक अर्थ समझने के लिये कोष ग्रन्थों पर दृष्टि डाल लेना समुचित होगा। यहां ध्यान रखने की एक बात यह भी है कि अंग्रेजी साहित्य में बिम्ब के लिये 'इमेज' तथा 'इमेजरी' शब्दों का प्रयोग होता है। अतः हमें 'इमेज' तथा 'इमेजरी' शब्दों के अर्थ को देखना होगा।

* शोध अध्ययता, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

संस्कृत कोष ग्रन्थों के अमरकोष के अनुसार — बिम्ब शब्द का अर्थ सूर्य अथवा चन्द्रमा के वृत्त अर्थात् गोला बतलाया गया है। हेमकोश^३ में प्रतिबिम्ब, वृत्त तथा कुन्दरूपल आदि अर्थ दिये गये हैं। 'मानक हिन्दी कोष'^३ पारदर्शक पदार्थ में पड़ने वाली किसी वस्तु की छाया, झलक तथा लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति से निकलने वाले अर्थ को 'बिम्ब' कहा गया है। इसी प्रकार 'बृहत हिन्दी कोष', 'नालन्दा शब्द सागर' आदि कोष ग्रन्थों के अनुसार — 'बिम्ब' का अर्थ प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाया, प्रतिमूर्ति, सूर्य—चन्द्र मण्डल आदि प्राप्त होते हैं। संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी^१ में बिम्ब अर्थात् इमेज के पर्यायवाची शब्द है सूर्य—चन्द्र मंडल, प्रतिच्छवि, प्रतिच्छाया, चित्र प्रतिबिम्बित अथवा प्रत्यांकितरूप।

'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' के अनुसार इमेज अर्थात् 'बिम्ब' को ऐसी चेतन स्मृति कहा गया है जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति में उसका सम्पूर्ण अथवा आंशिक दृश्य उपस्थित करती है।^४ 'दि इन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना' में बिम्ब किसी वस्तु की उस पुनरुत्पत्ति को कहा जाता है जो सूक्ष्मदर्शी यंत्रों के द्वारा दृष्टि पटल पर पड़ती है।^५ आक्सफोर्ड डिक्शनरी में इमेज का अर्थ किसी वस्तु की कृत्रिम अनुकृति अथवा बाल्यरूप का चित्रण बताया गया है।^६ 'इमेजरी' शब्द के अर्थ की लगभग इससे मिलते जुलते हैं। 'इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी' के अनुसार इमेजरी का अर्थ मनःसृष्टि, कल्पना सृष्टि, संकल्प, भावना, उपलक्षण आभास, अनुकार आदि हैं।^७ 'बृहत अंग्रेजी हिन्दी कोष' में इमेजरी का अर्थ है — बिम्बसृष्टि, कल्पना सृष्टि, प्रतिमा विधान, चित्रावली, वासना, कल्पना, लाक्षणिक चित्रण, संगतराक्षी आदि।^८

बिम्ब की दृष्टि से काव्य मूल्यांकन की परम्परा फ्रांसीसी साहित्य में जन्म लेकर आंग्ल साहित्य में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई है। दरअसल बिम्बवाद का जन्म विक्टोरिया युग की रोमैण्टिक कविता के विरोध में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ की एक क्रान्तिकारी घटना है। बिम्बवाद के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध दार्शनिक, समालोचक एवं महाकवि टी.ई. ह्यूम का नाम लिया जाता है। उन्होंने 'स्पेकुलेशन्स' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में बिम्ब सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं किन्तु उनका यह बिम्ब विवेचन स्वतंत्र रूप में न होकर कविता के सौन्दर्याधायक तत्त्व के रूप में ही मिलता है। काव्य भाषा पर विचार करते हुये वे लिखते हैं 'कविता कोई बोलचाल की भाषा नहीं अपितु एक मूर्त भाषा है यह सहजाभिव्यंजक भाषा का उमंजन है जो ऐन्द्रिय संवेदना प्रदान करती है।'^९

इस प्रकार ह्यूम के मत से अमूर्त अभिव्यक्ति कविता न होकर साधारण बोलचाल की भाषा है। ह्यूम ने कविता के जिन अनिवार्य गुणों की चर्चा की है वे प्रकारान्तर से बिम्ब की ही विशेषताएं हैं। विचार तो अमूर्त होते ही हैं। ये विचार कवि द्वारा रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अप्रस्तुत उपमानों, मूर्ति, विधायक उपमानों की सहायता से सामाजिक के इन्द्रियानुभवों को जागृत कर विचार को मूर्त बना दिया जाते हैं जिस प्रकार से विचार सहजगम्य हो जाते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में इसी प्रक्रिया को बिम्बविधान कहा गया है।

बिम्बवादी आन्दोलन को ठोस आधार प्रदान करने में सर्वाधिक योगदान अमरीकन कवि समीक्षक एजरा पाउण्ड का है। अपने साहित्यिक निबन्धों में इन्होंने बिम्बवाद की

वकालत तो की ही साथ ही बिम्बात्मक कविताएं लिखकर उसकी व्यावहारिक पृष्ठभूमि भी तैयार की इनकी मान्यता है कि बिम्बहीन विचार सहजबोध्य नहीं होते उनको समझने में कठिनाई होती है। फलतः काव्यानुभूति बिलम्बित होती है। अपना गन्तव्य स्पष्ट करते हुये वे लिखते हैं कि पाठक के मन में आने वाली काव्य बोध विषयक उलझनों को समाधान देकर बिम्ब एक ओर समय की बचत करता है, अनावश्यक विस्तार को रोकने में सहायता करता है और दूसरी ओर कलाकृति के चरम लक्ष्य को प्राप्त कराता है।¹⁰ इस प्रकार बिम्ब की महत्ता बतलाकर कि गया है कि बिम्ब वह तत्व है जो बुद्धि तथा भावना विषयक उलझनों को क्षणमात्र में अभिव्यक्त कर दे।

एजरा पाउण्ड ने कविता की बिम्बवादिता के लिये आवश्यक बताया है कि उसका चित्रण स्पष्ट होना चाहिए, उसका विषय चाहे विषयक वस्तुपरक हो अथवा भावपरक¹¹ उसमें किसी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए जो विचार को मूर्त रूप प्रदान करने में सहायक न हो साथ ही रचना संगीतमयता को दृष्टि में रखकर की जानी चाहिए न कि छन्दोबद्धता के आधार पर।¹² इसके अतिरिक्त उसने बिम्ब में मौलिकता एवं नवीनता का होना अपरिहार्य रूप से स्वीकार किया है।¹³ इस प्रकार कहा जा सकता है कि काव्य सम्बन्धी उसकी उपर्युक्त तीन शर्तों में से प्रथम और दूसरी शर्त निश्चय ही बिम्ब से सम्बन्धित है। कविता की जिस मूर्तता का वह जिक्र करता है वह मूर्तता भी बिम्ब का ही पर्याय है।

काव्य बिम्ब का स्वतंत्र, गहन एवं सर्वांगीण विवेचन करने वालों में सेसिल डे लेविस का नाम सर्वोपरि लिया जाता है। उन्होंने दि पोयटिक इमेज नामक अपने ग्रन्थ में बिम्ब का— काव्य बिम्ब का लक्षण देते हुये कहा है कि— ‘काव्य बिम्ब ऐन्द्रियता से युक्त चित्र है।’¹⁴ उनका कथन है कि ‘काव्यबिम्ब थोड़ी बहुत मात्रा में ऐन्द्रियता के तत्व से युक्त शब्द चित्र होता है। वह कुछ अंश में रूपात्मक होता है, कुछ मानवीय संवेदना से सम्प्रेत होता है और पाठक को काव्यात्मक भावना और आवेग बांधने वाला होता है।’¹⁵

आगे चलकर लेविस ने सफल बिम्ब के लिये कुछ आवश्यक गुणों का निर्देश किया है तदनुसार औचित्य, परिचितता, मौलिकता तथा नवीनता आदि गुणों से समृद्ध होने पर बिम्ब सहज ही अर्थ प्रतीति कराने में सफल होता है।¹⁶ एस0जे0 ब्राउन के अनुसार बिम्ब शब्दों या लोकोक्तियों से अभिव्यक्ति होने वाला इन्द्रियग्राह्य वस्तु विधान है।¹⁷ आई0ए0 रिचर्ड्स बीसवीं शदी के गम्भीर एवं मनोवैज्ञानिक पाश्चात्य समीक्षक है। उन्होंने भी बिम्ब की ऐन्द्रियता, सहजाभिव्यंजकता तथा संवेदनात्मकता को सर्वाधिक महत्व दिया है।¹⁸

आस्टिन बारेन मनोविज्ञान के आधार पर बिम्ब का स्वरूप निर्धारित करते हुये कहते हैं कि ‘मनोविज्ञान में बिम्ब शब्द का अर्थ, विगत स्मृतियों के संवेदनात्मक अनुभवों का ऐसा मानसिक पुनरुत्थान है जिसका दृष्टि गम्य होना अनिवार्य नहीं है।’¹⁹ पाश्चात्य विद्वानों का इस प्रकार बिम्ब के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न निःसन्देह सराहनीय है। पाश्चात्य विचारकों के अनुसार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बिम्ब के स्वरूपाधायक तत्वों में ऐन्द्रिय मूर्तता, सहजाभिव्यंजकता, संवेदनात्मकता, परिचितता, भावोद्बोधकता आदि गुण सहायक हैं, एक प्रकार से इनकी अनिवार्यता अपेक्षित है।

आधुनिक पौरस्त्य विद्वानों एवं साहित्य समीक्षकों ने इन्हीं पाश्चात्य विचारकों के बिम्ब सिद्धान्त को कुछ परिवर्तन-परिवर्धन एवं संशोधन के साथ ग्रहण किया है। अतः पौरस्त्य विद्वानों के बिम्ब विधान सम्बन्धी विचारों की चर्चा कर लेना भी प्रसंगोचित है।

सन्दर्भ

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — चिन्तामणि भाग 1, पृ० 184
2. संस्कृत अमरकोश 1 / 3 / 15
3. मोनियर-संस्कृत इंगलिश-डिक्शनरी मानक हिन्दीकोश, चतुर्थ खण्ड, पृ० 126
4. Images are concious memories which reproduce a previous preception in whole or in part in the absence of the original stimules to the preceptions. - Encyclopaedis Britannica col. XII, P. 103.
5. "Image in optics, is the apparent reprafluction that an optical system makes of an object." - The EncyclopaediaAmericana, Vol. 14, 705
6. Image, an artificial imitation or presentation of theexternal from of any object. - The shorter Oxford English Dictionary, 9-8.
7. English - Sanskrit Dictionars, P. 214
8. बृहद अंग्रेजी हिन्दी कोश भाग — 1, पृ० 925
9. "It (poetry) is not a counter language, but a concratt one; it is a compromise for language of intuition which would handover sensation bodily". - T.E. Hume, : Speculations, P. 135
10. वही
11. "An image is that which presents an intellectual and emotional complex in an instant of time". - T.S. Eliot, Literary Essays of Ezra Pound, P. 4.
12. "To use absolutely no word that does not contribute to the presentation." Literary Essays of Ezra Pound P - 6.
13. "As regarding rhythm : to compose in the sequence of the musical phrase not in sequence of a metronome.-T.S. Eliot:Literary Essays of Ezra Pound P-6.
14. The poetic image is a picture in words touched with some sensuous quality. - C Day Le Wice - The Poetic image P. 19
15. Ibid page 17, 45-46
16. "As regarding rhythm : T.S. Eliot; Literary Essays of English Pond, P. 11
17. C.D. Lewis : The Poetic image, P. 18
18. Rane Wellek & Austin warren, Theory of Lit. P. 191
19. "His seven type of imagery, arranged in his own order are the aerorative, the Sunkin, The voilent, the radical, the intensive, the expensive and the exuderant." - Quoted by Austin Warren in theory of Literature, P. 205

ग्वालियर संस्कृति एवं परम्परा

मोनिका भदौरिया*, डॉ. मंजू अवस्थी**

ग्वालियर भारत के लगभग मध्य भाग में 25–35' और 26–21' उत्तरी अक्षांश एवं 77–40' से 78–50' पूर्वी देशांतर रेखा पर स्थित है।¹ ग्वालियर के उत्तर पश्चिम में मुरैना जिला, उत्तर पूर्व में भिण्ड जिला, पूर्व में दतिया जिला एवं दक्षिण में शिवपुरी जिला है।²

प्राचीन काल से ग्वालियर क्षेत्र ऋषि-मुनियों की तपस्थली रहा है। ग्वालियर का नाम एक समतल शिखर वाली एकाकी पहाड़ी पर बने हुए एक शिला-निर्मित ऐतिहासिक किले के नाम पर पड़ा है। नाम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न किवदंतियाँ प्रचलित हैं इसका उल्लेख पुरालेखों में 'गोपपर्वत', 'गोपाचल दुर्ग', 'गोपगिरि' या 'गोपाद्रि' के नाम से हुआ है।³ ग्वालियर का इतिहास मुख्यतः ग्वालियर किले से सम्बन्धित रहा है।

ग्वालियर की स्थापना कुंतलपुरी या कुतवार के राजा सूरजसेन नाम के एक कछवाहा सामन्त द्वारा की गयी थी।⁴ सूरज सेन कोढ़ी था। एक दिन जब उसे गोपगिरि पहाड़ी के पास शिकार खेलते हुए प्यास लगी तो वह 'ग्वालिपा' नामक सिद्ध की गुफा पर पहुँचा और उसने पानी मांगा, ऋषि ने उसे पानी दिया। जल के पीते ही राजा रोग मुक्त हो गया, तब राजा ने ऋषि के निर्देशानुसार उस पहाड़ी पर किले का निर्माण कराया तथा जिस तालाब से पानी लिया गया था, उस तालाब को बड़ा कर उसका नाम सूरजकुण्ड रखा।⁵

ग्वालियर क्षेत्र कृषि प्रधान रहा है और फसलों की सिंचाई का प्रमुख साधन वर्षा था लेकिन कुएं व नदियों द्वारा भी सिंचाई कार्य किया जाता था। सिंधिया काल में नदियों पर निर्मित बांधों द्वारा भी सिंचाई कार्य किया जाने लगा था। ग्वालियर क्षेत्र में चम्बल, पार्वती, सिंधि, वैशाली, आसन, स्वर्ण रेखा आदि नदियाँ हैं।

देश के प्राचीनतम नगरों में सुदीर्घकालीन ऐतिहासिक, गौरवशाली यशस्वी दृष्टि से ग्वालियर प्रमुख क्षेत्र रहा है तथा ग्वालियर भारत के विकास में पूर्व पाषाण युग से ही सहगामी रहा है। पुरातत्ववेत्ताओं एवं इतिहासकारों के अनुसार ग्वालियर का इतिहास कई ईसा पूर्व का है। पुरातात्विक व ऐतिहासिक दृष्टि से यह क्षेत्र सर्वप्रथम मानचित्र पर सन् 1878 ई. में उभरकर आया, जब जनरल कनिंघम ने इस क्षेत्र का वृहद एवं विहंगम चित्र प्रस्तुत किया। इसके बाद समय-समय पर पुरातात्विक उत्खननों एवं सर्वेक्षणों के द्वारा इस क्षेत्र का अध्ययन किया गया। इन्हीं उत्खननों में महत्वपूर्ण गुप्तेश्वर, सूरों व जड़ेरूआ उत्खनन अत्यंत महत्वपूर्ण है। यहीं से हमें ग्वालियर के सांस्कृतिक अवशेष मिलने प्रारम्भ होते हैं। गुप्तेश्वर से प्राप्त 'हसतकुठार', 'खुरचनी', 'विदारक' व पूर्व पाषाण काल से सम्बन्धी 'चाँपिंग पेबल' पूर्व-पाषाण कालीन एवं मध्य पाषाण कालीन संस्कृति की स्पष्ट जानकारी देते हैं। यहाँ प्रागैतिहासिक चित्रकला के कुछ उदाहरण भी मिलते हैं। हमारे पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा प्रागैतिहासिक संस्कृतियों की तिथि करीब 100,000 वर्ष पूर्व आंकी गयी है।⁶

* शोध छात्रा (इतिहास), जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

** विभागाध्यक्ष (इतिहास), एम.जे.एस. शासकीय महाविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

ग्वालियर पर मौर्य, सातवाहन, शुंग, कण्व, शक, कुषाण, नागवंश, प्रतिहार, कच्छपघात, तोमर तथा सिंधिया राजवंशों का शासन रहा है एवं मुगलकाल में दिल्ली के शासकों का भी ग्वालियर पर प्रभाव रहा। मुगलकाल में ग्वालियर दुर्ग को एक कैदखाने के रूप में प्रयोग किया गया। ग्वालियर का स्पष्ट इतिहास हूण शासक मिहिरकुल के सन् 530 ई. में प्राप्त मातृचे के शिलालेख से व सिंधिया काल तक का क्रमबद्ध तार्किक एवं व्यवस्थित सांस्कृतिक इतिहास प्राप्त होता है। ग्वालियर पर कन्नौज, गुर्जर प्रतिहार, दक्षिण के राष्ट्रकूट आदि ने आक्रमण किए जिसमें कभी गुर्जर प्रतिहार तो कभी राष्ट्रकूट विजयी हुए। अन्त में गुर्जर प्रतिहार एक लम्बे समय तक ग्वालियर पर राज्य करने में सफल हुए। गुर्जर प्रतिहार, कच्छपघात फिर प्रतिहारों ने ग्वालियर पर राज्य किया।'

इल्तुतमिश ने परिहारों से ग्वालियर का राज्य छीनने में सफलता प्राप्त की। सन् 1232 से 1374 ई. तक ग्वालियर पर दिल्ली सल्तनत का अधिकार रहा। सन् 1394 से 1516 ई. तक तोमरों ने ग्वालियर पर राज्य किया। उनके काल में ग्वालियर की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ चरम सीमा पर पहुँच गयी। सन् 1526 ई. से 1750 ई. के आसपास तक ग्वालियर पर मुगलों का अधिकार रहा। सन् 1765 ई. से ग्वालियर पर सिंधिया शासकों का अधिकार रहा।⁸ इनके काल में ग्वालियर प्रत्येक क्षेत्र में विकास को प्राप्त हुआ।

ग्वालियर का सामाजिक इतिहास सांस्कृतिक धरोहर के रूप में महत्वपूर्ण है। सामाजिक व्यवस्था ग्वालियर में प्रत्येक काल में देखने को मिलती है। सामाजिक व्यवस्था के प्रारम्भिक प्रमाण शैलाश्रयों से प्राप्त चित्र हैं जिनमें दैनिक कार्यों के दृश्य देखने को मिलते हैं। इन चित्रों से उस काल में मानव के रहने, खाने व अन्य प्रकार की गतिविधियों का पता चलता है।

ग्वालियर में प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में निरन्तर परिवर्तन देखने को मिलते हैं। प्राचीन कालीन ग्वालियर में जनसंख्या और आवश्यकताएं सीमित थीं जिसके कारण अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में विकास देखने को नहीं मिलता, किन्तु पूर्व मध्यकाल से ग्वालियर में राजनीतिक सत्ताओं का प्रसार हुआ जिसके फलस्वरूप ग्वालियर एक कृषि एवं उद्योग प्रधान नगर बन गया। सिंधिया शासकों ने ग्वालियर को अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में ऊँचाई पर ले जाने का कार्य किया। सिंधिया शासकों ने ग्वालियर को न केवल कृषि प्रधान बनाया वरन् उद्योग एवं व्यापार प्रधान बनाने के लिये सफल प्रयास किये।⁹

ग्वालियर भारत का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र रहा है और ग्वालियर की संस्कृति 'अखिल भारतीय' संस्कृति के अन्तर्गत एक क्षेत्रीय संस्कृति है। इस देश की सामूहिक संस्कृति का अंग होते हुये भी कुछ अपनी विशेषतायें रखती है और भारत जैसे विशाल देश को ये क्षेत्रीय संस्कृतियाँ पूर्णता प्रदान करती है, जिस प्रकार एक गुलदस्ते में रखे कई रंग और सुगंध को पुष्प अपनी-अपनी विशेषतायें रखते हुये श्री उसके सामूहिक सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, उसी प्रकार क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशिष्टतायें भी इस देश की सामूहिक संस्कृति को गरिमा और पूर्णता प्रदान करती है।

ग्वालियर की संस्कृति भारत की क्षेत्रीय संस्कृति होते हुये भी अपना एक अलग स्थान प्राप्त कर चुकी है तथा इसके भारत की विराट् संस्कृति के निर्माण और विकास में तथा

उसकी उन्नति और समृद्धि में अत्यधिक योगदान दिया है। ग्वालियर ने सांस्कृतिक धरोहरों के आधार पर भारत वर्ष के इतिहास में उच्च स्थान प्राप्त किया है।

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक ग्वालियर के इतिहास की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत अध्यायों में उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है। यहाँ की संस्कृति अत्यंत विस्तृत एवं प्रभावोत्पादक रही है, उसको बनाये रखने का कार्य वर्तमान पीढ़ी का है जो विरासत में मिला है उसे संजोए और पोषित करें ताकि आने वाली पीढ़ी उससे लाभान्वित हो सके।

मानव नाना प्रकार की परम्पराओं, रीति-रिवाजों का दास होता है। समाज में इनसे अलग रहकर वह अपने स्वतंत्र अस्तित्व की कोई कल्पना नहीं कर सकता। केवल यही नहीं पारिवारिक जीवन में भी विभिन्न प्रकार के लोकाचारों और संस्कारों से आबद्ध होता है। जन समाज को अपने जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक रीति-रिवाजों, संस्कारों और आचारों के बीच से गुजरना पड़ता है। इसी कारण समाज में मनुष्य अतीत से चले आ रहे रीति-रिवाजों को अपने कर्तव्यों का आवश्यक अंग मानते हैं। ग्वालियर के इतिहास में सामाजिक व्यवस्था प्रत्येक काल में देखने को मिलती है। शैलाश्रयों से प्राप्त चित्रों से ग्वालियर की प्रारम्भिक सामाजिक व्यवस्था एवं दैनिक कार्यों के दृश्य देखने को मिलते हैं जिनसे हमें उस समय के मानव के रहने, खाने व अन्य प्रकार की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त होती है।

सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध इस क्षेत्र में धीरे-धीरे परिवर्तन होते रहे। गालब ऋषि की तपोभूमि ग्वालियर पर कई राजवंशों जैसे— प्रतिहार, कच्छपघात, तोमर व सिंधिया ने कई इतिहास रचे। ग्वालियर की संस्कृति जो अत्यंत प्राचीन काल से अविरल धारा के रूप में बह रही थी उसे कई मुस्लिम आक्रमणकारियों के आक्रमणों का भी सामना करना पड़ा, परन्तु सब कुछ सहकर भी ग्वालियर की संस्कृति अविरल रूप से बहती रही। ग्वालियर में कई ऋषि—मुनि, संतों एवं फकीरों ने भी साधना की। ग्वालियर की एक और विशेषता यह रही है कि यह क्षेत्र आरम्भ से ही सर्वधर्म सद्भाव का प्रतीक रहा है।

संदर्भ

1. सी.आई. लुआर्ड, गजेटियर रियासत ग्वायिर, भाग-2 (अनुवाद हामिद खां), स्टेण्डर्ड प्रेस, इलाहाबाद, 1912 पृ.1
2. वही, पृ. 1 एवं 2
3. वही पृ. 2
4. व.सु. कृष्णन (सं.), ग्वालियर मध्यप्रदेश जिला गजेटियर, म.प्र. गजेटियर अनुभाग, संस्कृति विभाग, भोपाल, 1986 पृ. 8
5. वही
6. डॉ. रामनाथ मिश्र एवं डॉ एस.सी. शर्मा—प्राचीन ग्वालियर के सीमान्तों के पुरातात्विक, पुरातन भौगोलिक एवं ऐतिहासिक आधार, ग्वालियर—दर्शन, जीवाजी विश्व विद्यालय शोध संस्थान, ग्वालियर, 1982, पृ. 299
7. हरिहर निवास द्विवेदी, मध्यभारत का इतिहास, भाग-1, ग्वालियर 1967, पृ. 78
8. वही
9. डॉ. रजनी गुप्ता, ग्वालियर चम्बल का ऐतिहासिक भूगोल, अप्रकाशित शोध—प्रबंध (भूगोल), जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, 1993, पृ. 7